

प्रमुख समकालीन दार्शनिक



डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय



Published by:

South Asia Research & Development Institute

B. 28/70, Maras Mandir, Durgakund
Varanasi-221005, U.P. (INDIA)

प्रमुख समकालीन दार्शनिक

लेखक

डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

एम०ए० (दर्शनशास्त्र), नेट, पी-एच०डी० बी०एच०यू०

एसोसिएट प्रोफेसर

रामदेव पी०जी० कॉलेज

जंगीगंज, भदोही

प्रकाशक :

साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत)

प्रकाशक :
साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत)

© डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

प्रथम संस्करण २०१६

ISBN 978-81-932391-9-3

मूल्य : एक सौ पचपन रुपये मात्र

मुद्रक :
राज ग्राफिक्स
बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी
सम्पर्क सूत्र : 09415842611

प्राक्कथन

दार्शनिक शोधों तथा अध्ययनों में प्रमुख समकालीन दार्शनिक का स्थान अत्यन्त ही विशिष्ट और महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। यही कारण है कि भारतीय विश्वविद्यालय ने प्रमुख दार्शनिकों को अपने पाठ्यक्रम में रखना प्रारम्भ किया है।

प्रस्तुत पुस्तक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को दृष्टि में रखते हुए लिखी गयी है। निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिकों का भी उल्लेख पुस्तक में होना चाहिए था, परन्तु शीघ्रता से सम्भव नहीं हो सका। पुस्तक के अगले संस्करण में अन्य दार्शनिकों का भी समावेश कर दिया जाएगा। पुस्तक कितनी उपयोगी हो सकी है इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। यदि पुस्तक में कोई विशेष कमी हो तो मेरा विनम्र अनुरोध है कि सुधी पाठक उस ओर स्पष्ट संकेत करने तथा सुझाव देने की कृपा करेंगे।

अन्त में प्रकाशक श्री साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत) एवं मुद्रक राज ग्राॅफिक्स, लंका, वाराणसी, उ०प्र० (भारत) को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शीघ्रता से पुस्तक प्रकाशित करने का कार्य किया।

26/12/2015

डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग
रामदेव पी०जी० कॉलेज
जंगीगंज, भदोही



अनुक्रम

१. स्वामी विवेकानन्द 9-47
- स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचार
 - स्वामी विवेकानन्द के ईश्वर की विशेषताएँ
 - जगत् की अवधारणा
 - माया की अवधारणा
 - मानव की अवधारणा (भौतिक स्वरूप)
 - मानवकी स्वतन्त्रता एवं कर्म बन्धन
 - आत्मा का अन्तिम उद्देश्य : अमरत्व की अनुभूति
 - अमरत्व-अनुभूति के मार्ग-योग
 - ज्ञान योग
 - भक्ति योग
 - कर्म योग
 - राज योग
 - धर्म का स्वरूप : सार्वभौम धर्म
२. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन 48-76
- दर्शन का स्वरूप
 - अन्तर्दृष्टि
 - निरपेक्ष परमतत्त्व
 - ईश्वर विचार
 - जगत् विचार
 - मानव स्वरूप
 - कर्म और स्वतन्त्रता
 - कर्म और पुनर्जन्म
 - मानव का अन्तिम उद्देश्य-सर्व मुक्ति

- धार्मिक अनुभूमि
- धर्म का सार

३. महर्षि अरविन्द

77-112

- परमतत्त्व
- परम तत्त्व-सच्चिदानन्द
- विश्व-प्रक्रिया
- अतिमानस
- विकासवाद
- प्रज्ञान पुरुष तथा दिव्य जीवन
- मानव भविष्य दिव्य जीवन
- अज्ञान और माया
- माया
- आचार्य शंकर और अरविन्द की माया
- पूर्ण या सर्वांगीण योग

४. महात्मा गांधी और गांधीवाद

113-150

- गांधीवादी के स्रोत (क) स्वेदशी प्रभाव, (ख) विदेशी प्रभाव
- लाओत्से ओर कन्फ्यूसियस का प्रभाव
- रक्सिन और टाल्सटाय का प्रभाव
- डेविड व्यूरो
- महात्मा गांधी और धर्म
- धर्म-मार्ग
- हिन्दू धर्म के प्रति महात्मा गांधी का दृष्टिकोण
- अन्य धर्मों के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण या धार्मिक सहिष्णुता
- ईश्वर
- ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर
- ईश्वर सत्य है
- सत्य ही ईश्वर है

- नैतिक दर्शन
- सत्याग्रह
- सैद्धान्तिक आवश्यकताएँ
- महात्मा गांधी की सामाजिक विचारधारा
- आदर्श समाज के आवश्यक अंग
- स्वराज
- सर्वोदय
- गांधीजी की राजनीतिक विचार धारा
- विकेन्द्रीकरण
- ग्रामीण गणराज्य
- महात्मा गांधी की आर्थिक विचार धारा
- शरीरश्रम
- श्रम मजदूरी
- न्यास का सिद्धान्त
- भावात्मक रूप से यह सिद्धान्त
- निषेधात्मक रूप में यह सिद्धान्त



१ स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी १८६३ में कलकत्ते के सिमुलिया मुहल्ले के एक समृद्ध दत्त परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ था। इनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त और माता का नाम भुवनेश्वरी देवी था। इनका संक्षिप्त नाम नरेन था जिसके द्वारा इनके माता-पिता तथा गुरु सम्बोधित किया करते थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा बंगला और अंग्रेजी में हुई। ६ वर्ष की अवस्था में ये पाठशाला गये। तत्पश्चात् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की शैक्षिक संस्था में उपस्थित हुए तथा अन्त में प्रेसीडेन्सी कालेज में प्रवेश पाया। ये अपने समय के अत्यन्त मेधावी छात्र माने जाते थे। इन्होंने दर्शन, विज्ञान, साहित्य, संगीत आदि विविध विषयों का गम्भीर अध्ययन किया। प्रारम्भ में ये नास्तिक थे, परन्तु स्वामी रामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आकर घोर आस्तिक बन गये। इन्होंने स्वयं कहा है – एक दिन मैं एक मित्र से हसी में कहा कि यह स्वीकार करना तो असम्भव है कि यह बर्तन ईश्वर है, यह प्याला ईश्वर है, जो कुछ हम देखते हैं वह ईश्वर है और हम स्वयं ईश्वर हैं। इसी समय रामकृष्ण देव जी अपने कमरे से बाहर आये और इन्हें स्पर्श किया। इस स्पर्श ने मेरे मन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जहाँ भी मैंने देखा मुझे ब्रह्मा (ईश्वर) दिखलायी दिया। मेरे भीतर वहीं चेतना दिन भर रही, वह अनुभव बना रहा। जब मैं घर वापस आया, भोजन करने बैठा तो देखा भोजन परोसने वाला और मैं-सभी ब्रह्म हैं।” तत्पश्चात् ये स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सबसे प्रिय शिष्य बने और जीवन पर्यन्त अपने गुरु के विचारों का प्रचार करते रहे। इनके जीवन में अमेरिकी यात्रा का विशेष महत्त्व है। सन् १८८३ में धर्मों की संसद (पार्लियामेन्ट आफ रिलिजन्स) में भाग लेने शिकागों पहुँचे। ११ सितम्बर १८९३ में महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। इन्होंने प्रारम्भ किया – ‘अमेरिका के भाइयों बहनों, इन शब्दों को सुनकर लोगों ने करतल ध्वनि से इनका स्वागत किया और इनके भाषण की प्रशंसा मुक्त स्वर से की गयी। इसके बाद इन्होंने इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों की यात्रा की, वेदान्त के अद्वैत मत पर भाषण देते रहे। भारत लौटकर इन्होंने १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, अल्मोड़ा में मायावती नामक अद्वैत आश्रम की स्थापना की। अन्त में ४ जुलाई

१. १. द स्प्रिचुअल हेरिटेज आफ इण्डिया-स्वामी प्रभवानन्द पृ० ३५१, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन (१९६२)

१९०२ को ३९ वर्ष की अवस्था में स्वामी जी ने शरीर त्याग किया। उन्होंने जीवन भर नव्वे वेदान्त दर्शन का प्रचार किया। वे मानवतावादी संत थे, सभी धर्मों को समान मानने वाले जन-सेवा को सर्वोपरि स्वीकार करने वाले सच्चे सन्यासी थे। वे अद्वैत वेदान्त के समर्थक थे, परन्तु भक्ति भावना के महत्त्व को स्वीकार करते थे। वे सन्यासी अवश्य थे, परन्तु समाज प्रेमी। उनका धर्म तो वैराग्य था। परन्तु राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति से ओत-पोत। उनकी अटूट देशभक्ति का उद्गार उनकी पंक्तियों में स्पष्ट है— अगले पचास वर्षों के लिए, अन्य सब व्यर्थ के देवताओं को मन से निकाल दो। यही एक मात्र देवता है जो जागृत हैं।... सर्वत्र उसके हाथ, सर्वत्र उसके पैर और सर्वत्र उसके कान है और वह सभी वस्तुओं को आच्छादित किये हुए है। अन्य सभी देवता की, उस विराट की जो हमें चतुर्दिक दिखलाई पड़ता है, हम पूजा नहीं करते।... सर्व प्रथम पूजा तो विराट की पूजा है। ये सब हमारे देवता हैं – ये मनुष्य तथा पशु-और पहले देवता जिनकी हमें पूजा करनी है, हमारे देशवासी हैं। (द फ्यूचर आफ इण्डिया) विवेकानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सन्यास और समाज-सेवा दोनों का उपदेश देते थे। उन्हें आधुनिक भारत का वीर-ऋषि (वीरर्षि) स्वीकार किया जाता है। रोमा रोला ने स्वामी विवेकानन्द को 'हिन्दू-नेपोलियन' स्वीकार किया है। वे आत्म निर्भरता और आत्मविश्वास के प्रतीक थे तथा देश के लोगों को 'स्वयमेव मृगेन्द्रता' का शक्तियोग सिखलाना चाहते थे।

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचार

परम तत्व-ब्रह्म की अवधारणा-दार्शनिक दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्त के समर्थक थे। अद्वैत के अनुसार परम तत्व एक है, इसमें किसी प्रकार का द्वैत-भाव नहीं है। यह अद्वैत तत्व उपनिषद् की भाषा में ब्रह्म है। यह परम तत्व है, क्योंकि अंतिम तत्व है। यही मूल तत्व है, जिसका विकार सम्पूर्ण संसार है। इसे ही सर्वाधार भी कहते हैं, क्योंकि यह सभी वस्तुओं का मूल स्थान है या आधार है। तंत्त्रिय उपनिषद् (३/१) में बतलाया गया है कि केवल वही (ब्रह्म) तत्व इस जगत् का मूल कारण कहा जा सकता है, जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हो, जो सभी वस्तुओं की सत्ता का आधार हो और जिसमें अन्ततः सभी वस्तुओं का लय हो। तात्पर्य यह है कि वस्तु जगत् का आदि, आधार, अन्त ब्रह्म ही है और वहीं ब्रह्म परम तत्व है। स्वामी जी के अनुसार यह एक अद्वैत रूप ब्रह्म ही परम सत् है। इसे ही सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप माना गया है। ब्रह्म सत्, सर्वव्यापी, शुद्ध चेतन्य रूप, अन्तर्यामी है। ब्रह्म से बढ़कर कुछ नहीं, अतः उसे निरतिशय कहते हैं। सर्वव्याप्त होने के कारण वह सर्वभूमा कहलाता है। ब्रह्म ही विश्व का अव्याकृत रूप है,

सभी वस्तुओं का परम कारण, सभी शक्तियों का अधिष्ठानरूप है। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निष्कलुष, निरंजन, निरूपाधि है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द सगुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों का अनुगमन करते हुए स्वामी विवेकानन्द पर (निर्गुण) और अपर ब्रह्म (सगुण) दोनों को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि पर और अपर अर्थात् निर्गुण और सगुण में मौलिक भेद नहीं। दोनों एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। परम तत्त्व एक 'अद्वैत, अनन्त ब्रह्म है, परन्तु परम तत्त्व परमात्मा भी है। सर्वाधार, सर्वनियन्ता सर्वज्ञ, स्रष्टा आदि उपाधियों या विशेषणों से वही ईश्वर या भगवान कहलाता है। निर्गुण और सगुण में तत्त्वतः कोई भेद नहीं परन्तु स्वरूप भेद है। प्रश्न यह है कि सगुण और निर्गुण को स्वीकार करना तो द्वैत है, अद्वैत नहीं। उत्तर यह है कि स्वामी विवेकानन्द सगुण और निर्गुण को तत्त्वतः एक की मानते हैं, अतः वे अद्वैतवादी हैं। ब्रह्म एक अद्वैत, अनन्त है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं। एक ही परम तत्त्व (ब्रह्म) के दो स्वरूप हैं - निर्गुण और सगुण। परम तत्त्व (ब्रह्म) निर्गुण ही ईश्वर भगवान, जगत का कर्ता, धर्ता और संहर्ता कहलाता है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी निर्गुण और सगुण रूप ब्रह्म का स्वरूप भेद स्वीकार करते हैं। यह स्वरूप भेद दोनों का (निर्गुण और सगुण) का समन्वय है जो स्वामी विवेकानन्द की विशेषता है। इसे स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं - मेरा विचार है कि जिसे तुम सगुण ईश्वर कहते हो वह निर्गुण ब्रह्म ही है, एक ही साथ सगुण भी और निर्गुण भी। हम लोग सगुणीकृत निर्गुण आत्मायें हैं। तुममें से प्रत्येक विश्वात्मा है, प्रत्येक सर्वव्यापक है। ईश्वर एक वृत्त है किसकी परिधि कहीं नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में प्रत्येक बिन्दु सजीव, सचेतन, सक्रिय और समान रूप से क्रियाशील है। हम सीमित आत्माओं में केवल एक बिन्दु सचेतन है और वह केन्द्र आगे पीछे गतिशील रहता है। जिस प्रकार विश्व की तुलना में शरीर की सत्ता अत्यन्त लघु है, उसी प्रकार ईश्वर की तुलना में वह अपने सृष्टि के माध्यम से बोलता है। जब हम उसका वर्णन उसे देशकाल के परे कहकर कहते हैं तब हम कहते हैं कि वह निर्गुण सत्ता है।^१

इसमें स्पष्ट होता है कि स्वामी विवेकानन्द निर्गुण और सगुण का तात्त्विक भेद नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार परम तत्त्व एक अद्वैत ब्रह्म है। इसे वे निरपेक्ष सत् कहते हैं, जिसे किसी की अपेक्षा नहीं। वह अनन्त और अविभाज्य है। अनन्त का कोई अंग नहीं और अविभाज्य का विभाजन सम्भव नहीं। अविभाज्य होने के कारण ही ब्रह्म को निरवयव

१. विवेकानन्द साहित्य अष्टम खण्ड पृ० ११८-१९.२.

कहते हैं, क्योंकि उसका कोई अवयव या अंग नहीं। जिसका अवयव या अंग होता है वह अवयवी या अंगी माना जाता है। अद्वैत ब्रह्म अवयवी नहीं शुद्ध ईकाई है, जो एक ही है। उसके अवयवों का प्रश्न ही नहीं। स्वामी विवेकानन्द परम तत्त्व (ब्रह्म) को दिक्, काल और कारणता के परे भी मानते हैं। अनन्त को दिक् और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अनन्त ही नित्य या शाश्वत होता है, क्योंकि वह कारणजन्य नहीं होता। जो कारणजन्य होता है, वह अनिप्य होता है। नित्य का कोई कारण नहीं होता। इस प्रकार निरपेक्ष परम तत्त्व (ब्रह्म) की दिक् काल, कारणता आदि की अपेक्षा नहीं अर्थात् वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।

अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परम तत्त्व (ब्रह्म) को अनिर्वचनीय भी मानते हैं। परन्तु उनकी अनिर्वचनीयता की धारणा अन्य अद्वैतवादियों से भिन्न है। अद्वैतवादियों के अनुसार 'परम तत्त्व अनिर्वचनीय है' का अर्थ है कि परम तत्त्व वचन विन्यास के परे हैं, बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है। हम परम तत्त्व को भाव, अभाव (सत् और असत्) रूप में नहीं कथन कर सकते। अतः जो अवाङ्मनसगोचर होने के कारण बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है, वह निश्चय ही अनिर्वचनीय है। स्वामी जी के अनुसार वह अप्रमेय अवश्य है, परन्तु अज्ञेय नहीं। वह यथार्थ ज्ञान का प्रमा का विषय नहीं, क्योंकि प्रमा तो बौद्धिक या बुद्ध्यातीत है। अतः अबौद्धिक को अप्रमेय ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं बहु अज्ञेय है। अप्रमेय होने के कारण वह बौद्धिक ज्ञान और तार्किक अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सकता, सभी प्रमाणों की सीमा वहाँ समाप्त हो जाती है। परन्तु परम तत्त्व (ब्रह्म) को जानने का प्रयास हो सकता है। श्रुति-प्रमाण या आगम से उसकी सत्ता सिद्ध है। श्रुतियों के अनुसार परम तत्त्व (ब्रह्म) के दो स्वरूप माने गये हैं – निर्गुण और सगुण। निर्गुण स्वरूप में ब्रह्म अनिर्वचनीय और अलक्षण है। इसीलिए श्रुतियों में उसके लिये 'नेति' का प्रयोग हुआ है, अभावात्मक विशेषणों द्वारा उसके निर्गुण निराकार, स्वरूप की अभिव्यक्ति की गयी है। परन्तु अभावात्मक विशेषणों का अर्थ अभाव नहीं, वरन् समस्त भाव का सार है। अलक्षण कहने का अर्थ यही है कि कोई बौद्धिक लक्षण बुद्ध्यातीत तत्त्व का यथार्थ लक्षण करने में समर्थ नहीं। वह शुद्ध ज्ञान है, परन्तु मन, बुद्धि और ज्ञान, इन्द्रियों के परे। इसीलिये श्रुतियों में कहा गया है – जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसको कैसे जाना जा सकता (येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विज्ञानीयात्? इससे स्पष्ट परमतत्त्व इन्द्रिय गम्य नहीं, परन्तु अगम्य नहीं। वह अनुभूतिगम्य है, अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे जाना जा सकता है – विशुद्ध, शान्त और एकाग्रचित्त से उसकी उपलब्धि

सम्भव है। वह तर्कज्ञान का विषय नहीं, साक्षात् सद्यः अनुभूति का विषय है। अतः परम तत्त्व अज्ञेय नहीं, अप्रमेय अवश्य है। स्वामी विवेकानन्द परम तत्त्व (ब्रह्म) को निर्गुण स्वीकार करते हैं, परन्तु अद्वैतवादी होकर भी वे सगुण ब्रह्म की सत्ता भी स्वीकार करते हैं।

ईश्वर-सगुण ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं, वरन् और सगुण सविशेष है। इसे ही परम पिता, परमात्मा ईश्वर, भगवान आदि कहते हैं। इस सगुण ब्रह्म के श्रुति सम्मत दो लक्षण स्वामी विवेकानन्द स्वीकार करते हैं - स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है - सच्चिदानन्द अर्थात् ब्रह्म सत् है, चित् है और आनन्द स्वरूप है। दूसरे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी है। जिसके द्वारा सभी जीव उत्पन्न होते हैं (यतो वा हमानि भूतानि जायन्ते) आदि। ब्रह्म के इस लक्षण से ब्रह्म सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता सिद्ध होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्म को ही स्रष्टा, ईश्वर, भगवान कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को भी पूर्णतः सत् स्वीकार करते हैं। परन्तु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में विवेकानन्द का तर्क कुछ अद्वैत परम्परा से भिन्न है।

(क) कार्य-कारण मूलक तर्क - कार्य एक घटना जो अकारण नहीं घटती। इसके साथ ही यदि कारण है तो कार्य अवश्य घटित होगा। इस आधार पर यदि सृष्टि सत्य हो तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी सत्य है। इसी आधार पर अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सृष्टि की व्याख्या ईश्वर के बिना नहीं हो सकती। यदि संसार है तो इसका कर्ता ईश्वर भी है, अन्यथा कार्य अकारण हो जायेगा। इस तर्क को ही ध्यान में रखकर स्वामी विवेकानन्द कहते हैं- एक पत्थर गिरता है और हम पूछते हैं, क्यों। इस क्यों के प्रश्न में एक मान्यता यह है कि कोई घटना अकारण नहीं घटती। इसका अर्थ है कि संसार की सभी वस्तुएँ या घटनाएँ कार्य-कारण नियम से आबद्ध हैं। प्रत्येक घटना अपने पूर्ववर्ती घटना (कारण) का कार्य है तथा अपने उत्तरवर्ती घटना (कार्य) का कारण है। इस प्रकार संसार शृंखला में प्रत्येक कड़ी अपने पूर्ववर्ती कड़ी से जन्य है तथा उत्तरवर्ती कड़ी का जनक है। यह कार्य-कारण नियम (जन्य जनकत्व भाव) हमारे चिन्तन का अनिवार्य उपकरण है।^१ इस कार्य-कारण नियम के विश्लेषण के स्पष्ट होता है कि सृष्टि या संसार अकारण नहीं तथा स्रष्टा बिना सृष्टि का नहीं। संक्षेप में, संसार यदि सत्य है तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी सत्य है, अन्यथा कार्य

1. A stone falls and we ask why? This question is possible only on the supposition that nothing happens without a cause. It means that everything in the universe is by turn a cause & an effect. It is the cause of certain things which come after it, and is itself the effect of something else which has preceded it. This is the law of causation and is a necessary condition of all our thinking. Swami Vivekanand : Jnanayoga, P, 119-20.

कारण नियम का उल्लंघन होगा। परन्तु कार्य कारण नियम की भी सीमा है। यह नियम भी बुद्धि की देन है। जो बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है उस पर बौद्धिक नियम नहीं लागू किया जा सकता। अतीन्द्रिय विषय बौद्धिक नियमों के परे है। इसी दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि परम तत्त्व या ईश्वर तो स्वयंभू है। वह सबका कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है। ईश्वर स्वयंभू है, अतः अपने अस्तित्व का कारण स्वयं हैं यह पूर्णतः स्वतंत्र है। यदि स्वतंत्र को भी हम कारणजन्य माने तो वह स्वतंत्र नहीं परतंत्र होगा, स्वाधीन नहीं पराधीन होगा।^१ इस प्रकार स्वतंत्र और स्वयंभू ईश्वर अकारण है।

(ख) प्रयोजन मूलक तर्क - सम्पूर्ण सृष्टि में एक प्रयोजन है, एक व्यवस्था और सामंजस्य है। सम्पूर्ण सृष्टि में प्रयोजन प्रदान करने वाला परम पिता, परमात्मा ही हो सकता है। वही विश्व का व्यवस्थापक है। उसकी बनाई हुई व्यवस्था क्रम के कारण के कारण ही सभी विषयों और वस्तुओं में क्रम और व्यवस्था है। सम्पूर्ण सृष्टि की व्यवस्था करने वाला इसका निर्माता ईश्वर ही हो सकता है। इसी सृष्टि से स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को कुशल शिल्पकार कहते हैं। वह अपनी शिल्प कला में व्यवस्था, क्रम आदि का कारण स्वयं ही है। ईश्वर भी महान शिल्पकार है, जो अपनी शिल्प-कला, संसार-निर्माण में व्यवस्था और सामंजस्य का स्वयं कारण है। अतः जिस प्रकार कला-कृति की व्यवस्था में कुशल शिल्पी का अनुमान हो सकता है, उसी प्रकार विश्व व्यवस्था से व्यवस्थापक का भी।^२

(ग) नीतिमूलक तर्क - ईश्वर नैतिकता का नियामक है। हम शुभ या अशुभ कर्म करते हैं, अतः हम कर्ता हैं। परन्तु हमारे कर्म के अनुसार फल का विधान ईश्वर ही करता है। इस प्रकार हम कर्म के कर्ता हैं तो ईश्वर कर्म फल का दाता है। कर्म का नियम स्वयं अचेतन है। यह किसी चेतन पुरुष से नियंत्रित होता है। इसीलिये ईश्वर को 'कर्माध्यक्ष' माना जाता है। कर्म करना ही हमारे अधीन है, कर्म-फल का विधान तो ईश्वर के अधीन है। इस कर्म और फल से ही विश्व की व्यवस्था बती रहती है, परन्तु इस व्यवस्था का व्यवस्थापक ईश्वर ही है। इस व्यवस्था के कारण ही वह विश्व का शासक कहलाता है जो कर्म और फल की विधा में विश्व का शासन करता है।^३

1. That which exists by itself alone cannot have a cause, that which is free cannot have a cause, it would not be free but bound. Ibid, 121.

2. In short, out of the external world, we can only get the idea of an architect, that which is called 'Design Theory', Complete works of S. vivekanand P. 353.

3. 1. A personal Being who is the ruler of the universe. Swami Vivekanand : Complete works Vol. I. P. 353.

(घ) तात्त्विक एकता मूलक तर्क - विश्व में विविधता या अनेकता दिखलायी पड़ती है। परन्तु इसका आन्तरिक स्वरूप एकता है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि एक स्रष्टा (ईश्वर) की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषण तत्त्वतः स्वर्ण ही है, क्योंकि सभी स्वर्ण के ही विकार हैं। उसी प्रकार जड़-चेतन आदि विविधताओं से भरी हुई सृष्टि तत्त्वतः एक ही ईश्वर की सृष्टि है। इस प्रकार बाह्य विविधता में आन्तरिक एकता है, क्योंकि सभी विविधताओं का कारण ईश्वर एक है। जिस प्रकार नदी के प्रवाहों में विविधता दिखलायी पड़ती है, परन्तु नदी की आन्तरिक एकता ही विभिन्न प्रवाहों में प्रवाहित दिखलायी देती है। इसी दृष्टि से स्वामी जी कहते हैं कि बाह्य विविधता की दृष्टि से व्यक्तियों में, वर्णों में, ऊँच-नीच, धनी निर्धन, देवता मनुष्य, पशु आदि का भेद अवश्य दिखलायी देता है, परन्तु आन्तरिक (तात्त्विक) एकता की दृष्टि से सभी में अभेद है, क्योंकि एक ही के अनेक स्पन्दन है।^१

(ङ) अद्वैत मूलक तर्क - अद्वैत वेदान्त में एक अद्वैत परम तत्त्व के दो नाम हैं - आत्मा और परमात्मा। दोनों में अभेद है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों में तादात्म्य हैं, क्योंकि दोनों ही ब्रह्म है। ब्रह्म से भिन्न कोई तत्त्व ही नहीं। इस ब्रह्म तत्त्व को ही आत्म तत्त्व कहते हैं। इसमें अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, अयमात्मा ब्रह्म अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है, तत्त्वमसि अर्थात् तुम ही ब्रह्म हो आदि श्रुतिवाक्य प्रमाण है। इन्हें महावाक्य कहा जाता है। इन महावाक्यों का अर्थ आत्मा और परमात्मा की एकता है। इसी अभेद या अद्वैत तत्त्व को न जानने वाला परमात्मा की खोज में यहाँ-वहाँ भटकता है। अन्त में अभेद का ज्ञान होने पर उसे पता चलता है कि वही परमात्मा है। इसी आशय से स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि परमात्मा का निवास तो जीवात्मा में ही है। परन्तु इससे अनभिज्ञ हो मानव परमात्मा की खोज मन्दिरों और गिरिजाघरों में, धरती से लेकर स्वर्ग में तक उसकी खोज करता है। सर्वत्र परिभ्रमण के पश्चात् उसे इस रहस्य का पता चलता है कि परमात्मा तो उसकी आत्मा ही है। वह व्यर्थ इधर-उधर भटक रहा था।^१

अन्त में स्वामी विवेकानन्द आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि परमात्मा सबसे बड़ा कवि है जिसकी कविता यह सृष्टि है। वह अपनी कविता के पद्यों और लयों को अपने अनन्त आनन्द में लिखता है।^२ तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही जगत् का रचयिता है और

1. It is God within your own self... After long reserches here and there in temples and churches, earths and heavens, you come back to your own self, nearest of the near is your own self. Ibid. p. 81

2. I never read of anymore beautiful conception of God than the following. He is the great poet, the ancient poet, the whole universe is his poem coming in versers, rhymes and rhythms within infinite bliss, Swami Vivekanandan : Jnana Yoga P. 148.

जगत उसकी रचना है। अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परमात्मा को जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों मानते हैं। परमात्मा अपनी लीला (इच्छा) से ही जगत् की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण जगत उसकी लीला है। श्रुतियों में जगत् को परमात्मा की लीला स्वीकार किया गया है। परमात्मा अपनी लीला या क्रीड़ा के लिए ही सृष्टि करता है। क्रीड़ा या खेल का कोई कारण नहीं हो सकता परमात्मा की क्रीड़ा में भी कोई अभाव नहीं वरन् उसका स्वभाव ही कारण है। उसका स्वभाव ही आनन्द है। अतः आनन्द के लिये वह सृष्टि करता है, खेल करता है। जिस प्रकार कोई स्वान्तः सुखाय किसी कविता की रचना करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए संसार को उत्पन्न करता है।

स्वामी विवेकानन्द के ईश्वर की विशेषताएँ

(क) स्वामी विवेकानन्द के ईश्वर की सबसे बड़ी विशेषता निर्गुण और सगुण का समन्वय है। वे अन्य अद्वैत वेदान्तियों के समान पर और अपर ब्रह्म का भेद नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार 'परम तत्त्व एक अद्वैत रूप अवश्य है, परन्तु इसे ही ईश्वर कहते हैं। उनका ईश्वर निराकार और साकार दोनों हैं। श्री शंकराचार्य आदि अद्वैत वेदान्ती पर और अपर अर्थात् निर्गुण और सगुण में भेद मानते हैं। श्री शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म या आत्मा को ही परम तत्त्व मानते हैं। इसे ही पर ब्रह्म कहते हैं। ईश्वर अपर ब्रह्म है। विवेकानन्द एक ही ईश्वर को निर्गुण और सगुण मानते हैं।

(ख) स्वामी विवेकानन्द व्यवहार और परमार्थ का भेद नहीं स्वीकार करते। शंकराचार्य आदि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार इनमें भेद है। ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य। व्यावहारिक दृष्टि से संसार सत्य है जो इसका कर्ता, धर्ता और संहर्ता है, तो ईश्वर भी सत्य है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से न सृष्टि है और न सृष्टिकर्ता। श्री विवेकानन्द के अनुसार यह भेद उचित नहीं। व्यवहार और परमार्थ, दोनों दशाओं में ईश्वर सत्य है। व्यवहार में जो सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है, वहीं परमार्थ में सत्, चित् और आनन्दरूप है।

(ग) स्वामी विवेकानन्द माया की उपाधि से ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते। अद्वैत वेदान्त में बतलाया गया है कि माया की उपाधि के कारण ही ईश्वर का अस्तित्व है जैसे अविद्या की उपाधि के कारण जीव का अस्तित्व। व्यावहारिक दृष्टि से माया सत् है तो मायापति ईश्वर भी सत् है। अज्ञान सत् है तो अज्ञान का आलम्बन जीव भी सत् है। स्वामी विवेकानन्द माया को ईश्वर की उपाधि नहीं मानते। अतः उनके अनुसार माया के कारण माया पति (ईश्वर) नहीं होता। ब्रह्म का ईश्वर होना स्वभाव है।

(घ) स्वामी विवेकानन्द ईश्वर का बाध नहीं स्वीकार करते। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म (निर्गुण) ही अबाधित तत्त्व है, परन्तु ईश्वर का बाध हो जाता है। ज्ञान के पश्चात् माया असत् है और मायोपाधिक ईश्वर भी असत् हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ईश्वर पूर्णतः सत्य है और उसका कभी बाध नहीं होता। ईश्वर त्रिकाल अबाधित, पूर्णतः सत् है। वह शान्त, शिव, शाश्वत, सदा एक रस, परम तत्त्व है।

(ङ) स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि सृष्टि के कण-कण में ईश्वर की सत्ता व्याप्त है। ईश्वर सृष्टि के भीतर निवास करता है और विश्व पर शासन करता है। वह विश्व का अन्तर्यामी सूत्रधार है। जिस प्रकार जल में नमक घोल देने पर नामक दिखलायी नहीं पड़ता, परन्तु जल के कण-कण में नमक व्याप्त रहना है। परन्तु वे ईश्वर को अतीन्द्रिय भी मानते हैं। उसकी सत्ता विश्व में ही समाप्त नहीं हो जाती। वह अनन्त है। सृष्टि में व्याप्त सत्ता केवल उसका अंग है। उसका विश्वातीत रूप अतीन्द्रिय है। जिसे मनुष्य की सीमित बुद्धि नहीं समझ सकती। हम उस असीम की अभिव्यक्ति के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं, उसे पिता, भ्राता, प्रिय, मित्र आदि रूप उसे जानने का प्रयास करते हैं, परन्तु पिता, भ्राता, प्रिय, मित्र आदि रूप में ईश्वर को जानना तो ईश्वर को ज्ञान का विषय बनाना है। ईश्वर विषय नहीं विषयी है, ज्ञेय नहीं वरन् जाता, आत्मा है।¹ हमारी अन्तात्मा ही परमात्मा है। हमारी सीमित भाषा में असीम को अभिव्यक्ति करने की शक्ति नहीं।

(च) 'मानवीय ईश्वर' – स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे ईश्वर को सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप मानते हुए भी ईश्वर को मानवीय गुणों से विभूषित भी मानते हैं। इस मान्यता से वे मनुष्य और ईश्वर के बीच की दूरी को समाप्त कर देते हैं। मनुष्य और ईश्वर में भेद है। मानव अपूर्ण, अल्पज्ञ असीम और सान्त है। ईश्वर पूर्ण सर्वज्ञ, असीम और अनन्त है। मनुष्य में दोष और दुर्बलताएँ हैं, परमात्मा निर्दोष और निष्पाप है। इस दूरी को वे समाप्त करने की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य और ईश्वर एक ही हैं।¹ अतः सभी मानवीय गुण ईश्वर में भी पाये जाते हैं। मानव के समान ईश्वर भी दयालु, न्यायप्रिय तथा शक्तिशाली हैं। मनुष्य ईश्वर तक पहुँच सकता है, उसकी प्रार्थना कर सकता है, उससे प्रेम कर सकता है। मानव प्रेम का उत्तर भी वह प्रेम से ही देता है। अतः वह मानवीय ईश्वर

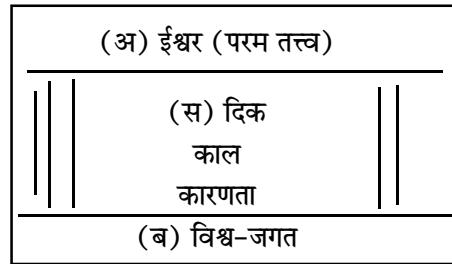
1. 1. You cannot describe Him by any language. All attempts of Language, calling Him father, brother or your dearest friend, are attempts to objectify God, which cannot be done. He is the eternal subject of everything. Complete works p. 134.

है। परन्तु दोनों में एक आवश्यक अन्तर यह है कि वह अनन्त है और मानव सान्त है।' इससे स्पष्ट है कि मनुष्य और ईश्वर में गुण का भेद नहीं वरन् मात्रा का भेद है। मनुष्य के गुणों में दया, न्याय, शक्ति आदि सम्मिलित है, परन्तु ईश्वर इन गुणों की पराकाष्ठा है - वह दया सागर, शुद्ध न्याय और शक्ति का धाम है। मानव तक पहुँचना सुगम है। ईश्वर तक पहुँचना दुर्गम है। मानव प्रेम पात्र है, ईश्वर परम मात्र है। जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द निर्गुण और सगुण का समन्वय करते हैं। उसी प्रकार मानीय ईश्वर के द्वारा मानव और ईश्वर की दूरी भी समाप्त कर देते हैं।

जगत की अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्ती है और उनकी जगत् की अवधारणा भी अद्वैत मान्यताओं के अनुकूल ही है। परन्तु उनकी जगत् सम्बन्धी व्याख्या अद्वैत परम्परा से कुछ भिन्न भी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है - ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या। स्वामी विवेकानन्द का अद्वैत ब्रह्म ही सत्य मानते हैं। उसे एक (अद्वैत) भी मानते हैं, परन्तु विवेकानन्द का अद्वैत ब्रह्म ईश्वर है जो सृष्टि कर्ता है। यदि सृष्टि (जगत्) का कर्ता सत्य है तो उसकी कृति (जगत्) भी सत्य है। यदि जगत् मिथ्या भी है तो वह एक विशेष अर्थ में। इसे भ्रम, माया या अविद्या की कृति मानकर मिथ्या नहीं माना जा सकता। अतः सृष्टि (जगत्) सृष्टिकर्ता (ईश्वर) की देन है और यह असत्य नहीं, सत्य है। इसे सत्य मानकर ही इसकी सही व्याख्या की जा सकती है। इसे असत्य मानना तो इसकी व्याख्या को भी असत्य बनाना है। इसकी सुसंगत व्याख्या इसे सत्य मानकर ही सम्भव है।

अद्वैत परम्परा का प्रायः करते हुए स्वामी जी ने एक जगत् की नयी व्याख्या किया है।^१ उन्होंने जगत् की व्याख्या के लिये एक रेखांकित चित्र इस प्रकार बनाया है -



1. He has human attributes. He is merciful, He is almighty, He is Just, He is Powerful. He can be approached, be prayed and loved. He loves in return and so forth, In one word, He is a human God, only infinitely greater than man.

चित्र में (अ) सृष्टिकर्ता (ईश्वर) है, (ब) उसकी सृष्टि (जगत) है और (स) दिक्, काल, कारणता आदि माध्यम है जिनके द्वारा सृष्टि होती है। इस रेखांकित चित्र में (स) परम तत्त्व (ईश्वर) है। ईश्वर अज, अविनाशी और नित्य तत्त्व है। दिक्-काल और कारणता से वह पूर्णतः अप्रभावित तत्त्व है। वह विभु और विराट् है जो सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। अतः वह स्थान या दिक् के परे है। वह नित्य और शाशवत तत्त्व है। अतः भूत, भविष्य और वर्तमान सभी में एक समान विद्यमान रहता है। वह त्रिकालवर्ती है, अतः काल के परे है। इसी प्रकार अब और अविनाशी को अकारण भी स्वीकार किया जाता है। कारण-जन्य तो सांत होता है, अनंत तो अकारण है। इसी कारण परम तत्त्व को अद्वैत परम्परा में 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' कहा जाता है, क्योंकि दिक् काल और कारणता से वह अवच्छिन्न नहीं होता। परंतु विवेकानन्द का ईश्वर अज होते हुए भी अकर्ता नहीं। दिक् और काल के परे वह विभू, विराट् और सर्वव्यापी तत्त्व है। परंतु इतना होते हुए भी ईश्वर सृष्टिकर्ता है। सृष्टि के लिये दिक् और काल की आवश्यकता है, निमित्त और उपादान कारणों की अपेक्षा है।

यहाँ एक कठिनाई उत्पन्न होती है। ईश्वर अनपेक्षा या निरपेक्ष है परन्तु सृष्टि कर्ता होने से वह दिक्, काल और कारण सापेक्ष बन जाता है। अतः वह निरपेक्ष कैसे? इसका उत्तर यह है दिक्, काल, कारणता आदि स्वतन्त्र तत्त्व नहीं, अथवा इनकी स्वतन्त्र सत्तायें नहीं हैं। हम भूत, वर्तमान और भविष्य में काल विभाजन करते हैं। किसी स्थिर बिन्दू की अपेक्षा से किसी को भूत और किसी को भविष्य की संज्ञा देते हैं, परन्तु अविभाज्य का विभाजन सम्भव नहीं। जो सर्वदा गतिशील है, वह कभी स्थिर नहीं होता। परन्तु व्यावहारिक सुविधा के अनुसार हम भूत भविष्य और वर्तमान में काल का विभाजन करते हैं। यह हमारी व्यावहारिक उपलब्धि का साधन अवश्य है। इसी प्रकार हम निकट और दूर से दिक् का निर्देश करते हैं, परन्तु विभु और विश्वव्यापी तो सर्वत्र है। उसके लिये निकट और दूर कुछ भी नहीं। परन्तु व्यवहार में निकट और दूर की अवधारणाओं का आधार दिक् काल और कारणता आदि की अवधारणाये पारमाथिक नहीं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये हमारे सभी उपलब्धियों के साधन हैं। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि ये अवधारणाये पारमाथिक या तात्त्विक नहीं क्योंकि इनकी सत्तायें स्वतन्त्र नहीं। परन्तु ये अवधारणाये असत् भी नहीं। यदि इन्हें असत् मान लिया जाय तो हमें सांसारिक या व्यावहारिक वस्तुओं की उपब्धि असम्भव हो जायेगी। इसीलिये स्वामी जी इन्हें व्यावहारिक उपब्धियों का माध्यम या साधन

स्वीकार करते हैं, परन्तु ये तात्त्विक नहीं। सृष्टिकर्ता ईश्वर सत् है तो उसकी सृष्टि असत् नहीं। इसके साथ ही सृष्टि के माध्यम (देश, काल, कारणता) भी सत् है। ये उपलब्धि के साधन हैं, अतः सृष्टि की उपलब्धि हमें इन्हीं माध्यमों से होती है। इसे स्पष्ट करने के लिये स्वामी जी सागर और लहरों की उपमा देते हैं। सागर में लहरें उठाती हैं। अतः सागर लहरों का अधिष्ठान है। जब लहरें शान्त हो जाती हैं तो सागर का अस्तित्व बना रहता है। अतः लहरें सागर नहीं हैं, परन्तु सागर से सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। लहरों के बिना हमें लहराते सागर की उपलब्धि नहीं हो सकती। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि स्वामी जी देश, काल, कारणता आदि का महत्त्व सृष्टि के माध्यम रूप में स्वीकार करते हैं। यदि सृष्टि व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है तो दिक् काल, कारणता आदि भी इसके महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि या जगत् मिथ्या नहीं। इसकी सत्ता है, अतः यह सत् है, क्योंकि सत् सृष्टिकर्ता की अभिव्यक्ति है। कृति के असत् होने से कर्ता भी असत् ही होगा, क्योंकि असत् कार्य का कोई कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। इस तर्क के विपरीत स्वामी जी सत् कर्ता (ईश्वर) से सत् कार्य (संसार) को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे अद्वैत परम्परा के समर्थक हैं, अतः वे कारण से कार्य की उत्पत्ति के स्थान पर कारण से कार्य की अभिव्यक्ति मानते हैं और इस अभिव्यक्ति का माध्यम देश, काल और कारणता है। इससे स्पष्ट है कि जो ईश्वर देश, काल और कारणता के परे हैं वह भी देशगत, कालगत और कारणगत सृष्टि का कर्ता है।

सृष्टि (जगत) के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि सृष्टि कैसे होती है, इसकी प्रक्रिया क्या है? स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल रूप में विकसित होती है। तात्पर्य यह है कि जगत का मूल रूप सूक्ष्म होता है। सर्वप्रथम ईश्वर से सूक्ष्म तत्त्व ही आविर्भूत होते हैं, पुनः इनसे स्थूल तत्त्वों का विकास होता है। इस प्रकार स्वामी जी जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद और विकासवाद दोनों को स्वीकार करते हैं। जगत की वस्तुओं का वर्तमान स्वरूप तो सदियों के विकास का परिणाम है, परन्तु इनका प्रारम्भिक या मौलिक रूप सूक्ष्म है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल वस्तुओं का विकास वे स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी स्वामी जी सृष्टि या जगत की एक नयी व्याख्या देते हैं। इसे अद्वैत मत से सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता, परन्तु अद्वैत वेदान्त की जगत् सम्बन्धी यह नयी व्याख्या अवश्य कहा जा सकता है। उनकी विशेषता यह है कि वे संसार सम्बन्धी सृष्टिवाद और विकासवाद दो विरोधी सिद्धान्तों का भी अद्वैत परम्परा को मानते हुए सफल समन्वय कर देते हैं।

माया की अवधारणा

माया की अवधारणा अद्वैत-वेदान्त के रहस्य के लिये कुन्जी का काम करती है। इसे समझे बिना कोई व्यक्ति अद्वैत वेदान्त के परम तत्व (ब्रह्म) को नहीं समझ सकता। अद्वैत वेदान्त में माया को मिथ्या, भ्रम, भ्रान्ति अविद्या, अध्यास आदि अनेक शब्दों से संकेत किया गया है। इस भ्रम या भ्रान्ति के कारण ही हम जीव और जगत, विषयी और विषय, प्रकाश और अन्धकार आदि विरोधी धर्मों में भेद नहीं कर पाते। यही अध्यास हैं, क्योंकि ब्रह्म भिन्न जगत को यह ब्रह्म में अध्यस्त कर देती है। माया अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप (सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप) की आवृत कर असत् रूप (असत्य, अज्ञान और सान्त) जगत में प्रकट करती है। इसे अनिर्वचनीय माना गया है, क्योंकि यह न सत् है न असत् है। वरन् सत्-असत् से परे अनिर्वचनीय रूप है। संक्षेप में, माया ही संसार की सृष्टि और सृष्टिकर्ता आदि समस्त सांसारिक व्यवहारों की व्याख्या का एक मात्र सिद्धान्त है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार माया सिद्धान्त नहीं, वरन् तथ्य है। इस तथ्य से हमें पता चलता है कि जगत की यथावत स्थिति क्या है? संसार की सभी वस्तुएँ स्थित है। इनका ज्ञान हमें होता है, यह तथ्य है, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः जगत् की तथ्यात्मक स्थिति का ज्ञान हमें माया के कारण ही होता है।¹ इससे यह स्पष्ट होता है कि जगत में विभिन्न प्रकार के पदार्थ स्थित है। जगत के सभी पदार्थों की यथावत स्थित स्वीकार किये बिना हम जगत के सम्बन्ध में कुछ न सोच सकते, न किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकते हैं। जगत की कोई भी व्याख्या जगतिक वस्तुओं को स्थित मानकर ही सम्भव है। यदि मान ले कि जगत् भ्रम है, इसकी सत्ता नहीं है, यह तो प्रतीति है, परमार्थ नहीं, कल्पित है वास्तविक नहीं, तो हम जगत की व्याख्या नहीं कर सकते। अतः किसी भी व्याख्या के लिये आवश्यकता है कि व्याख्येय विषय की स्थिति को स्वीकार करे। व्याख्येय विषयों की स्थिति हम से स्वतन्त्र है अर्थात् संसार भौतिक और आध्यात्मिक विषयों से भरा है – यह एक तथ्य है जिसे माया कहते हैं। इस प्रकार माया संसार का सिद्धान्त नहीं वरन् जगत् का तथ्यात्मक (यथास्थिति) का विवरण है।²

इस तथ्यात्मक विवरण की विशेषता यह है कि इससे हमें विरोधों और व्याघातों का बोध होता है। विश्व का बड़ा ही विचित्र है, यह विरोधों से भरा है। सुख का विरोधी

1. May is not a theory, it is simply a statement of facts about the universe as it exists. Maya and the conception of God. Swami Vivekanand. Lecture in London 1896.

दुःख, शुभ का विरोधी अशुभ, दिन का विरोधी रात, जीवन का विरोधी मृत्यु सभी विद्यमान हैं। संसार में जो भी वस्तु स्थित है उसका विरोधी भी विद्यमान है। इस प्रकार ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई संसार में धर्म नहीं जिसकी विरोधी वस्तु या धर्म न विद्यमान हो। यदि जन्म सत्य है तो उसका विरोधी मरण भी बिल्कुल सत्य है। जगत् की इस तथ्यात्मक स्थिति को हमें स्वीकार करना है। यही तथ्यात्मक विवरण है। प्रायः हम एक ही पक्ष को देखते हैं और उसके विरोधी विपक्ष पर ध्यान नहीं देते – यह तथ्यात्मक विवरण नहीं। जगत के इस तथ्यात्मक विवरण की अभिव्यक्ति सरल नहीं। अभिव्यक्ति सकारात्मक या नकारात्मक होती है। हम भावात्मक या निषेधात्मक भाषा के माध्यम से ही किसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु जहाँ भाव और उसका विरोधी अभाव एक ही साथ समान रूप से तथ्य दिखलायी पड़े इसे अभिव्यक्त करना असाधारण कार्य है। ऐसी असाधारण स्थिति के लिए असाधारण भाषा का प्रयोग करना होगा। यह असाधारण भाषा का प्रयोग 'अनिर्वचनीय' वही है जो वचन विन्यास के परे हो। दो विरोधी धर्म या गुणवाले वस्तुओं की अभिव्यक्ति वचन माया सिद्धान्त नहीं है वरन् यह तथ्य है जिससे हमें जगत् की दयावत् स्थिति का ज्ञान होता है। विन्यास की विफलता का सूचक है। हम भाव और अभाव की अभिव्यक्ति एक ही साथ कैसे कर सकते हैं? यही तथ्यात्मक स्थिति की अनिर्वचनीयता है। इसी दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द कहते हैं तुम उसे जड़ कहों या चेतन, वस्तुस्थिति वहीं रहेगी अर्थात् तुम्हारे कथन से वस्तु स्थिति में कोई अन्तर नहीं। हम यह नहीं कह सकते कि उनका भाव है, हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका अभाव है। हम यह नहीं कह सकते कि वे एक हैं, नहीं कह सकते कि उनका अभाव है। हम यह नहीं कह सकते कि वे एक हैं, नहीं कह सकते कि वे अनेक हैं। प्रकाश और अन्धकार की सह-स्थिति यहाँ शाश्वत है जो अपृथक और अविभाज्य है। यह एक तथ्य है और एक ही समय तथ्य नहीं भी है, जाग्रत है और उसी समय सोया भी है – यह तथ्यात्मक विवरण है और इसे ही माया कहते हैं।¹ यही वचन-विन्यास के परे अनिर्वचनीय है। यह अद्वैत की अनिर्वचनीयता की एक नयी व्याख्या है।

1. What you call matter or spirit of mind or anything else you may like to call them, the fact remains the same? We cannot say that they are. We cannot say that are not. We cannot say they are one or many. This eternal play of light and darkness indiscriminately indistinguishable inseparable is always there. A fact yet at the same time not a fact, awake at the time asleep. This is statement of fact and this is called Maya, Lbid, 120.

मानव की अवधारणा: (भौतिक स्वरूप)

स्वामी विवेकानन्द मानव को भौतिक और अभौतिक या अध्यात्मिक दोनों मानते हैं। शरीर से मानव भौतिक है, परन्तु आत्मा से आध्यत्मिक। इस प्रकार मानव देह और देव दोनों हैं। प्रथम भौतिक है, क्योंकि पंच भूतो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से निर्मित है। यह भौतिक तत्त्व जड़ है, इसमें चेतना नहीं। इस प्रकार भौतिक शरीर जड़तमक है, क्योंकि पृथ्वी, जल तेज आदि जड़ तत्त्वों से निर्मित है। इन पंचभूतों के संघात को ही शरीर कहते हैं। शरीर एक पिण्ड है जो सभी भौतिक तत्त्वों का पिण्डीकृत रूप है। शरीर के सभी धर्म ... भी शारीरिक ही है, जैसे शरीर का वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होना। मानव बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आदि विभिन्न अवस्थाओं में वृद्धि और ह्रास, उपचय और अपचय को प्राप्त करता है। इस भौतिक शरीर में इन्द्रियाँ हैं। पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठान शरीर ही है। यही मानव व्यक्तित्व का बाह्य रूप है, जिसे देह की संज्ञा दी जाती है। इसके साथ मानव का एक और रूप है जिसे जैविक स्वरूप कहते हैं। मानव में मन, प्राण आदि भी हैं। परन्तु मानव के भौतिक स्वरूप में भौतिक और जैविक दोनों पक्ष आ जाते हैं।

अपने भौतिक स्वरूप में मानव अन्य जीवों के प्रायः समान है, क्योंकि सभी सजीव शरीर धारी होते हैं। पशु को भी मनुष्य के समान ही शरीर होता है। उसकी शारीरिक क्रियाएँ भी प्रायः मनुष्यों के समान ही होती हैं। आहार, निद्रा, मैथुन आदि शारीरिक क्रियाओं में मनुष्य और पशु में बहुत अन्तर नहीं। परन्तु अन्य जीवों से मानव का भेद मस्तिष्क को लेकर है। मानव मन के कारण मनन और चिन्तन करता है, बुद्धि के कारण विमर्श या विचार करता है, अहंकार के कारण कर्ता, भोक्ता का अनुभव करता है। मन, बुद्धि अहंकार आदि मानव के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अंग हैं। इस प्रकार मानव अपने भौतिक शरीर या स्थूल रूप से अन्य जीवों के समान है, परन्तु सूक्ष्म व्यक्तित्व (मन, बुद्धि, अहंकार आदि) के कारण अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी विशेषता विचार शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही मनुष्य की पशु आदि जीवों से श्रेष्ठ है, क्योंकि विचार करने की शक्ति अन्य जीवों में नहीं। इस विचार शक्ति से मानव और पशु आदि जीवों के व्यवहार में भेद होता है। पशुओं का व्यवहार प्रवृत्ति के अनुकूल होता है तथा उनका कार्य यंत्रवत् होता है। उदर-पूति ही उनके कार्यों की मूल प्रवृत्ति है। मूख लगने पर बेचैनी का अनुभव करना और क्षधा की शांति से प्रसन्नता का अनुभव करना यंत्रवत् व्यवहार है। ये मूल प्रवृत्तियाँ तो मानव में भी हैं। परन्तु मानव का व्यवहार विवेक या विचार से नियंत्रित होता

है। इस विवेक या विचार के कारण मानव विकल्पों में किसी एक का चयन करता है। इसके लिये संकल्प करता है। विकल्पात्मक परिस्थितियाँ किसी एक के लिये संकल्प करने में उसे लाभ-हानि उचित-अनुचित, श्रेय-प्रेय आदि सभी पक्षों पर विचार करना पड़ता है। विचार कर वह संकल्प करता है तथा संकल्प के अनुसार आचरण करता है। अतः मानव आचरण संकल्प जन्य है और संकल्प की स्वतन्त्रता विचार शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार संकल्प शक्ति और स्वतंत्र विचार मानव की विशेषता है जो अन्य जीवों में नहीं पायी जाती। इनके कारण ही मानव अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। जहाँ तक शारीरिक बल का प्रश्न है किसी सीमा तक पशु में यह बल अधिक है। परन्तु पशु में विवेक बल नहीं। यह तो मानव की विशेषता है।

आध्यात्मिक स्वरूप- मानव का आध्यात्मिक स्वरूप अभौतिक आत्मरूप है। मानव शरीर नहीं शरीरी है देह नहीं देव है। मानव का पाँच भौतिक तो लौकिक है, परन्तु इसका आत्मरूप अलौकिक है और अतीन्द्रिय है। यही मानव का तात्त्विक रूप है अर्थात् तत्त्व की दृष्टि से मानव आत्मा या परमात्मा है। परन्तु इस आत्मा या परमात्मा का निवास मानव शरीर में ही है। अतः शरीर की दृष्टि से मानव देह ही दिखलायी पड़ता है, परन्तु आत्मा की दृष्टि से मानव परमात्मा है, देव है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व देह और देव का सुन्दर समन्वय है। आपाततः मानव देह हैं, परन्तु तत्त्वतः देव है। उसका देवरूप साधारण दृष्टि से दिखलायी नहीं पड़ता। यह आध्यात्मिक रूप आसाधारण दृष्टि से ही पता चलता है। देवरूप को जानने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यक है। परन्तु देवरूप देह में ही स्थित है, आत्मा का अधिष्ठान शरीर ही है। इस प्रकार मानव किसी रूप में भौतिक शरीर है तो किसी रूप से अभौतिक या आध्यात्मिक आत्मा या परमात्मा है।

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्ती है। अतः आत्मा या परमात्मा को ही परम तत्त्व मानते हैं। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। आत्मा जीव और जड़ जगत् से भिन्न तत्त्व है। यह मन, बुद्धि अहंकार आदि से भी भिन्न है। यह सर्वथा असांसारिक, अजन्मा, सर्वव्यापक, शाशवत तत्त्व है। इसे नित्य, निरवयव और निर्विकारी तत्त्व कहते हैं। इसका स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। चित् रूप होने के कारण आत्मा, परमात्मा से अभिन्न है। स्वामी विवेकानन्द आत्मा को आत्मशक्ति कहते हैं जो सभी प्रकार की भौतिक और मानसिक शक्तियों से भिन्न है। इसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, परन्तु यह वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान आत्मा ही करता है। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, परन्तु जो नेत्रों में देखने की शक्ति प्रदान करता है। जिसे सुन नहीं सकते, परन्तु जो सुनने की शक्ति प्रदान करता है, जो प्राणों को शक्ति प्रदान करता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न है और सूक्ष्म

इन्द्रियों से भी भिन्न है। आत्मा शुद्ध, शान्त शाश्वत और स्वतंत्र तत्त्व है। यह शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, परन्तु शरीर और इन्द्रियों से यह पूर्णतः अप्रभावित है।

स्वामी विवेकानन्द भगवद् गीता (२-२३, २४) का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि कोई शस्त्र (तलवार आदि) इसे काट नहीं सकता, क्योंकि यह अवयव रहित है, आग इसे जला नहीं सकता, जल इसे भिगों नहीं सकता, वायु इसका शोषण नहीं कर सकता, आत्मा अच्छेय (न काटने वाला) अदाह्य (न जलने वाला) अक्लेद्य (न गलने वाला) और अशोष्य (न सूखने वाला) है। यह नित्य है, क्योंकि पंचभूत इसका नाश नहीं कर सकते। नित्य होने से यह सर्वगत या सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी होने से स्वाण (दूँढ के समान स्थिर) है, स्थाण होने से यह अचल और इसीलिये सनातन है। इसका कभी जन्म नहीं होता तथा यह मरता भी नहीं। जन्म और मृत्यु से परे होने के कारण ही नित्य है, क्योंकि अनित्य का ही जन्म-मरण होता है। यह सदा रहने वाला है, अतः शाश्वत है (२-२०) पुनः स्वामी जी भगवद् गीता की भाषा (२-२५) में कहते हैं कि आत्मा अव्यक्त है, क्योंकि इसका ज्ञान बुद्धि आदि करणों से नहीं हो सकता। आत्मा अतिन्द्रिय है, क्योंकि यह इन्द्रिय गोचर नहीं। आत्मा अविकारी है, क्योंकि सभी विकारों के परे हैं।^१

अद्वैत वेदान्ती होने से स्वामी विवेकानन्द आत्मा और परमात्मा में अभेद भी स्वीकार करते हैं। आत्मा और परमात्मा में भेद दृष्टि तो अज्ञान है। दोनों में अभेद ही यथार्थ ज्ञान है। इसका स्वरूप तादात्म्य है, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एक रूपता। स्वामी जी के अनुसार श्रुति प्रतिपादित साज्ञादमस्मि परमात्मा अर्थात् मैं ही परमात्मा हूँ, 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् तुम वहीं हो, यह आत्मा ही ब्रह्म है, आदि महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा में अभेद का प्रतिपादन किया गया है। स्वामी जी ब्रह्म को परमात्मा रूप ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार जीव और ब्रह्म की एकरूपता तो जीवात्मा और परमात्मा की समरूपता या अभिन्नता है। दोनों सत् चित् में अभेद है तो हमें इस अभेद है। एक आवश्यक प्रश्न यह है कि दोनों में अभेद है तो हमें इस अभेद का सर्वदा अनुभव क्यों नहीं होता? स्वामी जी को उत्तर है कि हम सर्वदा अपने को ससीम तथा सांसारिक समझते हैं। हम असीम और अनन्त रूप को नहीं जान पाते, क्योंकि शरीर इन्द्रिय, मन आदि के ऊपर नहीं उठते। हम शरीर, इन्द्रिय मन आदि को ही अपना तात्त्विक रूप मान लेते हैं। ये सभी सीमित है। जब हम ससीम को पार कर जाते तो असीम को जान पाते हैं। परन्तु हम ससीम शक्तियों में ही इतना संलग्न हो जाते हैं कि असीम की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं होता। वस्तुतः

इन ससीम शक्तियों में भी हमें असीम की झांकी मिलती है, परन्तु हमारी दृष्टि इतनी संकुचित तथा सीमित है कि सीमित है कि असीम का बोध हमें नहीं हो पाता। हमें इसकी झांकी तो मिलती है, परन्तु इसे समझ नहीं पाते। जब हम बौद्धिक ज्ञान के ऊपर उठते हैं तो हमें तत्त्व का बोध होता है। तभी हमें यह बोध होता है कि शरीर, इन्द्रिय और मन का स्वामी तो जीवात्मा है। जीवात्मा नित्य, कूटस्थ, शुद्ध, सत, चित्त, आनन्द रूप होने के कारण परमात्मा है। इस प्रकार हमारे व्यक्तित्व के दो रूप हैं – व्यक्त रूप और अव्यक्त रूप। व्यक्त रूप तो पाँच भौतिक शरीर है, इन्द्रिय और मन है। ये सभी ससीम हैं। अव्यक्त रूप आत्मा है जो असीम है। परमात्मा भी अव्यक्त और अनन्त है। इस प्रकार जीवात्मा ही परमात्मा है।

अन्त में, जीव की अनेकता पर भी विचार करना आवश्यक है। यदि जीव का तात्त्विक रूप आत्मा है और आत्मा परमात्मा में अभेद है तो संसार में अनेक जीव क्यों दिखलायी पड़ते हैं? स्वामी विवेकानन्द का उत्तर यह है कि अनेकता असत्य है और एकता ही सत्य है। जब हम मानव के बाह्य व्यक्तित्व को देखते हैं तो मानव अनेक दिखलायी पड़ते हैं। सभी के शरीर भिन्न हैं, मानसिक क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं, अतः सभी भिन्न हैं, अनेक हैं। परन्तु हम मानव के आंतरिक व्यक्तित्व (आत्मरूप) को देखते हैं तो सभी का व्यक्तित्व विराट, विभु रूप दिखलायी देता है। यही अव्यक्त आत्मा की एकता है। यह अव्यक्त आत्मा विश्वात्मा है और विश्वात्मा एक है। इस प्रकार जब तक हम मानव को जड़ शरीर मानते हैं, मानव अनेक है। जब हम मानव को चैतन्य रूप मान लेते हैं तो सभी चेतन एक है। इसे स्वामी विवेकानन्द सागर और लहर की उपमा से स्पष्ट करते हैं। लहरें सागर में उठती हैं, एक के बाद एक दिखलायी देती हैं। लहरों की दृष्टि से अनेकता है। परन्तु सभी लहरों का अधिष्ठान सागर ही है। अतः अधिष्ठान या आंतरिक दृष्टि से एकता ही है। इसीलिए स्वामी जी कहते हैं कि आत्मा एक अनन्त और अपरिणामी है। जो भी परिणाम या परिवर्तन संसार में दृष्टिगोचर होता है वह अपरिणामी में परिणामों की प्रतीति मात्र है।¹ तत्त्वतः या यथार्थ में, न परिणाम है और न परिवर्तन। ये तो मात्र प्रतीति है, जैसे सागर में अगणित लहरों की प्रतीति। जब हम प्रतीति से उपर उठकर परमार्थ या तत्त्व की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें शुद्ध, शान्त, सागर ही दिखलायी पड़ता है। इसी प्रकार एक अद्वैत अनन्त आत्मा जिसे विश्वात्मा या परमात्मा कहते हैं, यही परम तत्त्व है। परन्तु इस अद्वैत आत्मा का बोध हमें तत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर होता है। इसके साथ ही एक और प्रश्न प्रमाण सम्बंधी जुड़ा है। मानव

1. One Atman, one Self, eternally pure, perfect, unchangeable. All these various changes in the universe are but appearances in that oneself, Janana Yoga P. 350.

देह नहीं देव है, इसमें प्रमाण क्या है? इसके लिये आगम या शास्त्रीय प्रमाणों की कमी नहीं, परंतु स्वामी विवेकानन्द इसके लिये एक व्यावहारिक और धार्मिक प्रमाण बतलाते हैं। प्रायः धर्म में परे की भावना विद्यमान रहती है। हमारे सभी आदर्श और आचरण किसी परे की ओर उन्मुख है। यही देह और देव का लगाव है। इसमें देवत्व का लगाव है, हम इसका अनुभव करने के लिए विह्वल रहते हैं। यह बेचैनी बतलाती है कि हम शरीर से ऊपर उठना चाहते हैं। शरीर जड़ या अचेतन है। हमारी आत्मा चेतन है, यही हमारा देवत्व है। हम संसार तथा शरीर में सीमित होने के कारण, असीम को नहीं पहचान पाते। परन्तु इस असीम की ओर उन्मुख होने का प्रयास सतत् करते हैं। हमारा यह सतत् प्रयास ही बतलाता है कि असीम (आत्मा) की सत्ता है, जिसकी ओर हम उन्मुख हैं। हमारा प्रयास यह सिद्ध करता है कि हम किसी को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यही हमारा तात्त्विक विश्वात्म या परमात्म स्वरूप है। यही पूर्णता है जिसे प्राप्त करने का हम सतत् प्रयास करते। हमारा यह प्रयास ही सिद्ध करता है कि हम केवल पाँच भौतिक शरीर नहीं हैं। यह तो हमारा सीमित स्वरूप है। इसके परे हमारा असीम रूप (आत्मा या परमात्मा रूप है) जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं।

मानव की स्वतन्त्रता एवं कर्म बन्धन

स्वतंत्रता और बंधन दोनों विरोधी सत्य हैं। इनमें एक को यदि सत्य स्वीकार किया जाय तो दूसरे को अवश्य स्वीकार करना होगा। स्वतंत्र होने का अर्थ है बन्धन-विनाश अथवा बंधन से मुक्ति। इसी प्रकार बंधन का अर्थ परतंत्र होना है, स्वतंत्र नहीं। परतन्त्रता एक बन्धन है जो स्वतन्त्रता का विरोधी है। परंतु स्वामी विवेकानन्द की विशेषता यह है कि वे दोनों का समन्वय करते हैं, दोनों में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। अतः उनके अनुसार विरोध नहीं, एक की सत्यता से दूसरे की असत्यता सिद्ध नहीं होता। स्वामी जी मानव को पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं। तात्त्विक दृष्टि से मानव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। परंतु मानव का जीवन कर्मवाद के नियमों से संचालित होता है। कर्मवाद का नियम बतलाता है कि कर्म करने पर उसका फल निश्चित होता है अर्थात् कर्म सफल है। इसके साथ ही फल बिना कर्म किये नहीं मिल सकता। कर्म अकारण नहीं, यदि कारण है तो उसका कार्य या फल अवश्य मिलेगा। कर्मवाद के इन्हीं नियमों से हमारा सम्पूर्ण जीवन संचालित होता है। हम जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल भी भोगते हैं। हमारे वर्तमान जीवन की सभी उपलब्धियाँ हमारे भूत कर्मों के परिणाम का फल हैं। अतः वर्तमान भूतजन्य है। परंतु यह भविष्य का जनक भी है। हम वर्तमान जीवन में जैसा भी कर्म कर रहे हैं, वैसा ही फल हमें भविष्य में मिलेगा।

इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य सभी एक ही शृंखला में आबद्ध है। यह शृंखला ही कर्म बंधन है। हमारा जीवन इस नियम से बंधा है। प्रश्न यह है कि यदि हमारा जीवन किसी नियम के बंधन में अर्थात् कर्म-नियम से आबद्ध है तो हम स्वतंत्र कैसे?

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि कर्मवाद का उपरोक्त नियम सत्य है जीवन तथा जगत् की सभी घटनाएँ सकारण है, अकारण नहीं तथा हमारा कर्म कभी निष्फल नहीं होता। हमारा वर्तमान जीवन अकारण नहीं तथा भविष्य का जीवन भी अकारण नहीं। कर्मवाद का यह नियम प्रमाणित करता है कि हम अपनी नियति के नियामक हैं। हम अपने कर्मों के अनुसार अपने भविष्य को बना या बिगाड़ सकते हैं। हम अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। किया गया कर्म संस्कार में भविष्य का जनक होता है। अतः अपने भविष्य निर्माण में हम स्वतन्त्र हैं। हम किसी के अधीन नहीं, हम स्वाधीन हैं। हम जैसा चाहे कर्म कर सकते हैं और तदनुसार फल भी भोग सकते हैं। इस प्रकार कर्म का नियम ती अचेतन हैं। यह नियम यत्रवत् चलता रहता है, इसमें कोई व्यक्तित्व या अवधान नहीं होता। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने में चेतन मानव स्वतन्त्र है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह कैसा कर्म करे और फल पाये। मानव के ऊपर कोई दबाव नहीं। वह स्वतंत्र होकर इस नियम के अनुसार कार्य करता है। कर्म का बन्धन तो पूर्व और उत्तर क्षणों का बन्धन है। इससे यही सिद्ध होता है कि दो क्षणों में एक को दूसरे की अपेक्षा है। परन्तु इस सापेक्षता को स्वीकार करने में मानव स्वतंत्र है। इससे स्पष्ट है कि कर्म के नियम में भूत और वर्तमान का बंधन अवश्य है। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता, मानव को अपने भविष्य को बनाने या बिगाड़ने में वह स्वतंत्र है। इसमें अपने को असहाय, पराश्रित, पराधीन, मानने की आवश्यकता नहीं। वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। इस प्रकार स्वतंत्र भविष्य निर्माण में कर्मवाद मानव का साधक है, बाधक नहीं।

आत्मा का अन्तिम उद्देश्य : अमरत्व की अनुभूति

आत्मा शरीर नहीं, शरीर का स्वामी या शरीरी है, इन्द्रिय नहीं इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यह देह नहीं देह में स्थित देव है। यह जड़ नहीं चेतन है। यह भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व है। शरीर इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा यह ससीम और सान्त दृष्टिगोचर होता है, परन्तु तत्त्वतः यह असीम और अनन्त है। शरीर से संयोग ही आत्मा का बन्धन है और शरीर से वियोग ही इस बन्धन का विनाश या अमरत्व की उपलब्धि है। इस उपलब्धि को ही अन्तिम उद्देश्य कहा गया है। अमरत्व को प्राप्त करने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः अमरत्व ही अन्तिम लाभ, परम प्राप्य, अशेष लाभ माना जाता है।

अमरत्व के दो अर्थ हैं - अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक अर्थ में अमरत्व मृत्यु का अभाव है। साधारणतः हम समझते हैं कि मृत्यु हमारे जीवन का अन्त है। जब हमारी मृत्यु होती है तो जीवन समाप्त हो जाता है। परन्तु मृत्यु से जीवन सर्वदा समाप्त नहीं होता। जीवन मृत्यु तो एक ही सत्य के दो स्वरूप हैं, अविच्छिन्न अंग हैं। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है तथा जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी अवश्य होता है। अतः जन्म और मृत्यु में किसी एक को अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसे एक ही साथ के दो अविच्छिन्न अंग स्वीकार किया जाता है। हम जन्म लेते हैं मरने के लिये और मरते हैं जन्म लेने के लिए। परन्तु जिस समय हमारी मृत्यु होती है, उस समय हम समझते हैं कि हमारा जीवन समाप्त हो गया अर्थात् मरण जीवन का अन्त प्रतीत होता है। परन्तु यह अन्त नये जन्म का आरम्भ है। इस प्रकार जन्म और मरण का अनवरत चक्र चलता रहता है। हम मरकर पुनः जन्म लेते हैं। यही पुनर्जन्म है। इसे बन्धन कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा का शरीर के साथ पुनः पुनः संयोग स्थापित हो जाता है। यह आत्मा शरीर संयोग ही बन्धन है। इस बन्धन का विच्छेद ही अमरता है। इस प्रकार अभावात्मक अर्थ में अमरता मृत्यु का अभाव, पुनर्जन्म का अभाव है। संक्षेप में, यह जन्म-मरण के अनवरत चक्र का अभाव है।

प्रश्न यह है कि यह बन्धन क्यों और कैसे होता है? उत्तर है, बन्धन कर्म-जन्य है। हम कर्म करते हैं, फल भोगते हैं। कर्म और फल की अनवरत धारा चलती रहती है। कर्म एक ओर कारण है तो दूसरी ओर कार्य। यह बीज और वृक्ष दोनों हैं। हमारे कर्म का एक पूर्व क्षण है जिसे कारण कहते हैं तथा इसका उत्तर क्षण है जिसे कार्य कहते हैं। बीज और वृक्ष के समान कारण और कार्य सदा एक साथ रहते हैं। अकारण कोई कार्य नहीं होता अर्थात् सर्वदा सकारण ही होता है तथा कारण निष्फल नहीं होता। अर्थात् कारण सर्वदा सफल होता है। इस प्रकार कर्म में सकारणता और सफलता दोनों समाहित हैं। कर्म का इस प्रकार कर्म में सकारणता और सफलता दोनों समाहित है। कर्म का इस प्रकार सकारण और सफल होना भूत, वर्तमान और भविष्य का नियामक नियम है। भूत में कर्म के कारण हमें वर्तमान शरीर (कार्य) प्राप्त हुआ है और वर्तमान में कर्म के कारण पुनर्जन्म होगा। इस कर्म पुनर्जन्म का विनाश ही अमरत्व की अनुभूति है। जब आवगमन का चक्र अवरुद्ध हो जाता है तो सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं। यही अमृतत्व की प्राप्ति या अमरत्व की अनुभूति है। इस अमृतत्व को प्राप्त करने वाले के लिये कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः यह अशेष लाभ या परम लाभ है।

इस प्रकार आत्मा का अन्तिम उद्देश्य अमरत्व की अनुभूति या अमृतत्व की प्राप्ति है। वस्तुतः यह अनुभूति किसी वस्तु या विषय का अनुभव नहीं, किसी वस्तु को प्राप्त करने का सुख नहीं। यह तो अपने स्वरूप ज्ञान का सच्चा आनन्द है। जब व्यक्ति अपने यथार्थ शाश्वत रूप को जान लेता है तो उसे अमृतत्व या अमरत्व की अनुभूति का आनन्द होता है। इसमें न तो कुछ पाना है और न खोना है। यह तो केवल अपने जानना है। अतः अमरत्व की अनुभूति तो आत्मोपलब्धि है, आत्मा के अमृत स्वरूप का ज्ञान है। इसे स्वामी विवेकानन्द एक उपाय से स्पष्ट करते हैं। कोई व्यक्ति अपने गले में पड़े हुये स्वर्ण-हार को इधर-उधर खोजता है। विचार करने पर पता चलता है कि उसके प्राप्त करने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं। स्वर्णहार तो उसके गले में ही लटक रहा है। इसे भूल जाने का कारण ही वह हैरान और परेशान है। इसी प्रकार जब हम आत्मा के नित्यानन्द, शाश्वत सुखरूप को भूल जाते हैं तो शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से दुःख का अनुभव करते हैं। जब हमें अपने अमृत स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो सद्यः साक्षात्, शाश्वत सुखरूप का अनुभव करने लगते हैं। यही आत्मोलब्धि का आनन्द है, जिसे अमरत्व की अनुभूति कहते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो मृत्यु से बढ़कर कोई दुःख है, सभी दुःख अन्तिम दुःख अर्थात् मरण-दुख से कम ही है। मृत्यु तो जीवन का अन्त है। अतः मरण का दुःख तो अन्तिम दुःख है जो सबसे बढ़-चढ़कर है। मनुष्य को अपने कर्म के कारण भविष्य का शरीर या भविष्य जीवन (कार्य) प्राप्त होगा। भूत वर्तमान और भविष्य का नियामक कर्म सिद्धान्त ही है। यह कर्म ही बन्धन कहा गया है, क्योंकि इसके कारण ही जन्म प्राप्त होता है, आत्मा का शरीर से संयोग होता है। हम अज्ञान के कारण कर्म करते हैं, फल भीगने के लिए शरीर प्राप्त करते चले जाते हैं। कर्म की अनवरत धारा चलती रहती है और जीवन का अविराम प्रवाह भी चलता रहता है। इसका अवरोध ही अमरत्व है। इसे जन्म और पुनर्जन्म दोनों का अभाव माना जाता है।

भावात्मक अर्थ में अमरत्व स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। आत्मा सुखरूप तथा पूर्णतः स्वतंत्र है। जन्म और पुनर्जन्म के कारण बारम्बार आत्मा को शरीर के साथ संयोग और वियोग का दुःख सहना पड़ता है। परन्तु संयोग-वियोग जन्य आत्मा का यह अनवरत दुःख केवल प्रतीति है, परमार्थ नहीं, भ्रान्ति है सत्य नहीं। तत्त्वतः आत्मा अपरिणामी और नित्य है। जन्म और मरण तो शरीर के परिणाम है, अपरिणामी आत्मा के धर्म नहीं। अपरिणामी की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। यह अनुत्पाद्य और अविनाशी ही नित्य तत्त्व आत्मा है। नित्य तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। दुःखादि की अनुभूति तो शरीर के विकार है, अविकारी आत्मा के ये धर्म तर्ही हो सकते। हमें दुःख की अनुभूति होती है,

क्योंकि हम अपने को शरीर और इन्द्रियों तक सीमित मानते हैं असीम आत्मा तो अशरीरी तथा अतीन्द्रिय है। अतः यह दुख के अनुभव से नितान्त असम्बद्ध है। तत्त्वतः यह शाश्वत तत्त्व सुखरूप है। यह सुख किसी को प्राप्त करने का सुख नहीं। निष्काम आत्मा तो नित्यतृप्त है। यह सुख, शांति का लाभ है। इसे परम शान्ति या परमानन्द की अवस्था कहते हैं। यदि सच्चे स्वरूप का पता लग जाय कि वह सभी मरता ही नहीं तो वह किसी प्रकार के दुःख से भयभीत नहीं होगा। मनुष्य का पूर्णतः अभय होना ही अमरत्व की अनुभूति है जिसे अमरत्व की प्राप्ति कहते हैं। इसे दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। साधारणतः हम विनाश के भय से भयभीत रहते हैं। जब हम समझ सकते हैं कि हम अविनाशी हैं, अर्थात् हमारा विनाश कदापि और कथमाप नहीं हो सकता तो हमें अभय होने का आनन्द प्राप्त होता है। यही आत्मा की शाश्वत सुखरूपता है, जिसे अमरत्व की अनुभूति कहते हैं। इस शाश्वत सुखरूपता के साथ ही हमें स्वतन्त्रता का भी सुख होता है। हमारी परतन्त्रता या पराधीनता तो शरीर और इन्द्रियों के कारण है। जब हम इस भ्रांति के ऊपर उठ जाते हैं तो अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की भी अनुभूति होती है। अतः अमरत्व की अनुभूति पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति है।

अमरत्व के साधक तर्क- आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। जन्म और मरण तो शरीर का होता है, शरीरी, (आत्मा) का नहीं। देह के परिणामों से अपरिणामी देही (आत्मा) अप्रभावित रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का अक्षणण या अविनश्वर अस्तित्व ही आत्मा की अमरता है। यदि यह शरीर के समान मरणधर्मा होता तो विनाशी होता। यह मरणधर्मा नहीं है, अर्थात् अविनाशी या अमर है। यह अद्वैत वेदान्त का सिद्ध सिद्धांत है। स्वामी विवेकानन्द इस अद्वैत मत को और भी आगे बढ़ाते हैं अर्थात् आत्मा की अमरता के लिये कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(क) आत्मा नित्य है, क्योंकि निरवयव है। केवल सावयव वस्तुओं का ही विनाश होता है, निरवयव का नहीं। सावयव वस्तु अवयवों का संवात होता है। अतः इसे अवयवी या अंगी कहते हैं, क्योंकि विभिन्न अवयवों या अंगों के संयोग से इसका निर्माण होता है, जैसे हाथ-पैर आदि शरीर के अवयव या अंग हैं। इन अवयवों या अंगों के संयोग से अवयवी (शरीर) का निर्माण और इसके वियोग से अवयवी का विनाश होता है। परन्तु जो निरवयव है, उसमें न तो संयोग होगा और न वियोग। संयोग और वियोग (जन्म और मरण) के परे नित्य या अविनाशी ही होगा। इससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है।

(ख) शक्ति का सातत्व आत्मा की अमरता सिद्ध करता है। आत्मा की शक्ति अपार है। इसे शक्ति का स्रोत या अधिष्ठान माना गया है। यह शक्ति शाश्वत रूप में विद्यमान रहती है। मृत्यु के समय इस शक्ति का पतन सा प्रतीत होता है तथा पुनर्जन्म में पुनः शक्ति का उत्थान प्रतीत है। परन्तु पुनर्जन्म केवल शाश्वत शक्ति का रूपान्तरण है। शक्ति सर्वदा बनी रहती है। यह सर्वदा सक्रिय रहती है, कभी निष्क्रिय नहीं होती। केवल भ्रांतिवश हमें मृत्यु के समय निष्क्रिय प्रतीत होती है। वस्तुतः यह सक्रिय है और इसकी सक्रियता कभी समाप्त नहीं होती। भूत, वर्तमान और भविष्य में आत्मिक शक्ति का सातव्य और इसकी सक्रियता आत्मा की शाश्वत सत्ता और अमरता सिद्ध करती है। यदि इस शक्ति में कभी विराम होता, इसकी गति में अवरोध होता तो यह नित्य और निरन्तर नहीं होती।

(ग) मुक्ति की कामना भी आत्मा की अमरता सिद्ध करती है। हम बार-बार जन्म लेते हैं और बार-बार मरते हैं। जन्म और मरण के प्रवाह में इन सर्वदा दुःख भोगते रहते हैं। सुख और शान्ति की मगत्तुष्णा के पीछे हम दौड़ते, भागते, हैरान-परेशान रहते हैं। विचार करने पर हम बेचैन हो जाते हैं, दुःख-सागर के पार जाना चाहते हैं। जन्म और मरण की परिधि को पार कर अनन्त विश्राम की इच्छा करते हैं। यह अनन्त विश्राम मुक्ति की कामना है। हम जीवन और मरण की प्रक्रिया का अन्त चाहते हैं, बन्धन का विनाश चाहते हैं। यह बन्धन विनाश ही मुमुक्षु को इच्छा, मुक्ति की कामना है। इस इच्छा की इच्छित वस्तु मोक्ष या मुक्ति है। यदि कोई इच्छित वस्तु न हो तो उसकी इच्छा निरर्थक है। हमारी मुक्ति की इच्छा सार्थक है, क्योंकि इसके अनुरूप अर्थ (मोक्ष) अवश्य है अन्यथा हमारी इच्छा ही निरर्थक होती। परन्तु मुक्ति की इच्छा या मोक्षेच्छा की सार्थकता प्रायः दार्शनिक स्वीकार करते हैं। मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है अर्थात् परम् प्राप्तव्य अर्थ या वस्तु है। यदि इसकी सत्ता ही नहीं होती तो इसे परम प्राप्तव्य क्यों माना जाता और हम मुमुक्षु ही क्यों होते?

(घ) आत्मा की अमरता तो साक्षी रूप में स्वतः सिद्ध है। अतः आत्मा को मरण-धर्मा मान लेना तो विरोध को स्वीकार करना है। तर्क शास्त्र में विरोध का नियम प्रमाणित करता है कि दो विरोधी एक ही साथ सत्य नहीं हो सकते। भाव और अभाव तो प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी स्वभाव वाले हैं। इनमें एक ही सत्य हो सकता है, दोनों नहीं। आत्मा की शाश्वत अवस्थिति शुद्ध भाव है। इसके अभाव की कल्पना असंगत होगी। इसका कारण यह है कि अभाव तो भाव सापेक्ष है। जिसका भाव न हो उसके अभाव की कल्पना असंगत है। इसे अद्वैत वेदान्त की भाषा में इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है। आत्मा के अभाव की कल्पना तो आत्मा के मरण की कल्पना है। परन्तु इस अभाव की

कल्पना करने में भी आत्मा को साक्षी रूप में स्वीकार करना ही होगा, अन्यथा अपने अभाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा। 'मैं हूँ' अर्थात् आत्मा का भाव है, इसे आधार रूप में साक्षी मानकर ही मैं नहीं रहूँगा' अर्थात् आत्मा का अभाव होगा, यह कल्पना हो सकती है यहाँ शुद्ध भाव अपने अभाव का साक्षी होगा अन्यथा अभाव की कल्पना असंगत होगी। इसी आधार पर अद्वैत अभाव का साक्षी होगा अन्यथा अभाव की कल्पना असंगत होगी। इसी आधार पर अद्वैत वेदान्त में कहा जाता हूँ कि आत्मा के निराकरण में भी निराकर्ता (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप है, अतः अपने अभाव की चेतना का साक्षी आत्मा ही है। इससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है।

अमरत्व की अनुभूति और सर्व-मुक्ति-अद्वैत वेदान्त में अमरत्व दो प्रकार का माना गया है - विदेह मोक्ष और संदेह मोक्ष। पहला देह धारण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वथा समाप्त हो जाना है। यह शरीर का अन्तिम मरण है। पुनः शरीर धारण नहीं होता, क्योंकि सभी कर्म और संस्कार सबीज नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर ही सम्भव है। परन्तु इस शरीर के रहते हुए भी बन्धन विनाश सम्भव है। ज्ञानी को सद्यः मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उसका जन्म मरण रूप बन्धन के रहते भी समाप्त हो जाता है। यह सदेह मोक्ष है। इसे प्राप्त करने वाले जीवनमुक्त कहा जाता है। जीवनमुक्त पूर्णतः अनाशक्त आत्मज्ञानी है। जीवित रहने से उसका शरीर तो विद्यमान रहता है, इन्द्रियाँ भी कार्यशील रहती हैं, परन्तु वह अनाशक्त आचरण करता हूँ। वह निष्काम भाव से जीता है। ऐसे निष्काम आचरण करने वाले को ही गीता में 'स्थितप्रज्ञ' भाव से जीता है। प्रायः इसे ही बौद्ध परम्परा में 'बोधिसत्व' भी कहा जाता है। बोधिसत्व को अहंत से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि अहंत स्वतः तो निर्वाण की प्राप्त कर लेता है। परन्तु दूसरों को निर्वाण प्राप्त करने का प्रयास वह नहीं करता। अतः महायानी अहंत पद की प्राप्ति को तुच्छ मानते हैं, क्योंकि अहंत स्वार्थी होता है, जिस के सभी प्रयास स्व-निर्माण तक सीमित रहते हैं। महायान में पर-निर्वाण पर अत्यधिक बल दिया गया है। जो दूसरों के निर्वाण में सहायता करता है, परिनिर्वाण में प्रवेश करता है। इसके लिये बोधिसत्व होना आवश्यक है, क्योंकि वह सभी के निर्वाण का संकल्प करता है। इसे सर्व समुद्धरण का सिद्धान्त कहते हैं। कुछ दार्शनिक इसे ही 'सर्वमुक्ति' का सिद्धान्त मानते हैं। महर्षि अरविन्द, डॉ० एस राधाकृष्णन आदि सर्वमुक्ति के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते हैं। इसमें समाज सेवा, लोक-कल्याण की भावना का अत्यधिक महत्व है।

स्वामी विवेकानन्द समाज सेवा और लोक कल्याण का महत्व तो स्वीकार करते हैं। परन्तु सर्वमुक्ति के लिये स्व-मुक्ति को तुच्छ नहीं मानते। मानव का अन्तिम उद्देश्य

अमरत्व की अनुभूति करना है। यही परम लाभ और परम पुरुषार्थ है। वह दूसरों की सहायता और सेवा भी अवश्य करें, परन्तु सर्वमुक्ति के सामने स्वमुक्ति का निरादर वह नहीं कर सकता। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द महायान के सर्वमुक्ति सिद्धान्त से अंशतः प्रभावित तो है, परन्तु इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। वे सर्वमुक्ति को समाज सेवा और लोक कल्याण तक ही स्वीकार करते हैं। समाज की सेवा तो परमात्मा की पूजा है, परन्तु साधक का अन्तिम उद्देश्य आत्म-मुक्ति ही है, सर्वमुक्ति नहीं।

अमरत्व-अनुभूति के मार्ग-योग

अमरत्व की अनुभूति आत्मा का अन्तिम उद्देश्य है, प्राप्तव्य की प्राप्ति, परम लाभ है। संक्षेप में, साधक का यही साध्य है। इस साध्य का साधन, गन्तव्य तक गमन करने का मार्ग योग है। यह भारतीय दर्शन का सुनिश्चित सिद्धान्त है। इसके महत्व को आस्तिक और नास्तिक दोनों परम्पराओं में एक स्वर से स्वीकार किया गया है। स्वामी विवेकानन्द भी अपने उद्देश्य-अमरत्व की अनुभूति का एक मात्र साधन योग ही स्वीकार करते हैं। वेदान्ती होने के कारण वे इस वैदिक परम्परागत मार्ग का महत्व स्वीकार करते हैं। परन्तु उनकी योग की अवधारणा परम्परागत से कुछ आगे भी है। वे इसे नये विचारों तथा व्याख्याओं से परिवर्तित और परिमार्जित करते हैं। अतः उसकी योग की अवधारणा प्राचीन होती हुई भी अर्वाचीन प्रतीत होती है। स्वतः स्वामी जी योगी थे, अतः योग-शास्त्र और यौगिक आचरण दोनों में पूर्णतः पारंगत थे।

परम्परा से योग शब्द सम्बन्ध और समाधि दोनों का वाचक है।' आत्मा और परमात्मा में, जीव और शिव से सम्बन्ध का साधन ही योग है। इसके साथ ही योग समाधिवाचक भी है। दोनों में अधिक विरोध नहीं। समाधि की स्थिति में ही आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध हो सकता है, अतः समाधि भी योग है। इस प्रकार योग सम्बन्ध होने के कारण साध्य है। वस्तुतः दोनों एक ही अनुशासन के आवश्यक अंग हैं, अतः दोनों एक ही हैं। स्वामी विवेकानन्द योग के इस व्यापक अर्थ को ही स्वीकार करते हैं।

ज्ञान-योग

विवेक प्रधान व्यक्ति के लिये ज्ञान-योग का प्रतिपादन किया गया है। इस योग के द्वारा आत्मा और परमात्मा का, जीव और शिव का सम्बन्ध हो सकता है। यह सम्बन्ध परमात्मा से तादात्म्य भाव या एकीकरण का भाव है। ज्ञान योगी आत्मरूप को परमात्मा

१. युजिर योगे में योग सम्बन्ध वाचक है तथा युज् समाधी में योग समाधि वाचक है।

स्वरूप समझता है, वह परमात्मा से भिन्न नहीं, अभिन्न है। यही आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य भाव है। आत्मा का परमात्मा से तद्रूप हो जाना ही तादात्म्य है। इसे ब्रह्म तादात्म्य या ब्रह्मात्मैकत्व भाव कहते हैं। जिस प्रकार नदियां अपनी सत्ता समुद्र में खो देती हैं, उसी प्रकार जीव भी नाम रूप से विहीन होकर ब्रह्म से तद्रूप हो जाता है। इसे आत्मा और ब्रह्म की एकता कहते हैं।

ज्ञान योग में ज्ञान की प्रधानता है। यह ज्ञान अभेदमूलक ज्ञान है। इस अभेद ज्ञान का फल अद्वैत रूप हो जाना है, अर्थात् आत्मा और ब्रह्म दोनों एक है। इसके विपरीत भेदमूलक ज्ञान है जिसके द्वारा आत्मा और ब्रह्म में भेद का प्रतिपादन किया जाता है। यह भेद-ज्ञान वस्तुतः अज्ञान या विशुद्ध ज्ञान का अभाव है। इसी दृष्टि से उपनिषद (कठ उप. ११.४.११) में बतलाया गया है कि जगत में भेद को देखने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है तथा अभेद दृष्टि से अमरत्व की प्राप्ति होती है। स्वामी विवेकानन्द के ज्ञान योग का सार यही है। उसके अनुसार ज्ञानी की आत्मा विश्वात्मा का रूप जारण कर लेता है।

स्वामी विवेकानन्द ज्ञानयोग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञान योगी का ज्ञान सूचना या सवेदना नहीं, यह तत्त्व ज्ञान का आत्म ज्ञान है। इसके दो कार्य हैं। इसका पहला कार्य तत्त्व का अतत्त्व से भेद करना या आत्मा का अनात्मा से भेद करना है। इसका दूसरा कार्य एक मात्र तत्त्व आत्मा या ब्रह्म का प्रतिपादन करना है। अतः वह भेद से आरम्भ करता है और अभेद से अन्त करता है। सर्वप्रथम वह समझता है कि आत्मा अनात्मा से भिन्न है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी अनात्म रूप हैं। शरीर, इन्द्रिय आदि अचेतन हैं और आत्मा चेतन है। चेतन अचेतन से भिन्न है। जब इस आत्म-अनात्म रूप भेद का ज्ञान उसे हो जाता है तो उसे आत्मा और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होता है। इस अभेद ज्ञान से ही अमरत्व की अनुभूति होती है, अर्थात् व्यक्ति अमर हो जाता है। संक्षेप में भेद से मृत्यु की प्राप्ति और अभेद से अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस अभेद ज्ञान का स्वरूप है तत्त्वमसि अर्थात् तुम वह हो, अयमात्मा ब्रह्म अर्थात् यही आत्मा ब्रह्म है, साक्षादहमस्मि परमात्मा अर्थात् साक्षात् मैं ही परमात्मा हूँ।

इस अभेद ज्ञान के लिए कुछ अनुशासन की आवश्यकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि शास्त्रोक्त मार्ग इसके लिए प्रसिद्ध हैं। इनमें सर्वप्रथम श्रवण है। हमें तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों का गुरु के समीप जाकर श्रद्धा से श्रवण करना चाहिए। जब हम गुरु से इन वाक्यों को सुनते हैं, तो हमें इन महावाक्यों के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। ये महावाक्य निरर्थक नहीं, सार्थक हैं। इसकी सार्थकता का ज्ञान हमें गुरुओं

के मुख से इन वाक्यों को सुनने से होगा। गुरुओं से सुनकर हम इन महावाक्यों के बारे में विचार-विमर्श प्रारम्भ कर देते हैं। यह मनन है। हम विचार करते हैं कि इन महावाक्यों का प्रयोजन क्या है। इसके बाद हम निदिध्यासन करते हैं। हम इन महावाक्यों के विषय में ध्यान करते हैं। ध्यान से इन महावाक्यों का अर्थ हमें स्पष्ट होता है कि हम अचेतन नहीं, पूर्ण चेतन हैं। हम शरीर, इन्द्रिय आदि अचेतन तत्वों से भिन्न चेतन हैं। हम इस चेतन तत्व पर ही ध्यान को एकग्रचित करते हैं। परन्तु इसके लिये हमें प्रत्याहार की आवश्यकता है। जब तक हम बाह्य विषयों से अपने मन को नहीं हटाते, हमारा मन मैं ही ब्रह्म हूँ। पर स्थिर नहीं हो पाता। अतः एक विषय पर स्थिर होना ही ध्यान है। ध्यान के लिये दो बातों की आवश्यकता है। पहली आवश्यकता प्रत्याहार-ब्राह्म विषयों से मन को हटाना है। जब साधक का ध्यान ब्राह्म विषयों से हट जाता है तो आन्तरिक ध्येय विषय में लीन हो जाता है। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, प्रत्याहार, आदि सभी को स्वामी विवेकानन्द ज्ञान योग के आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं।

श्रवण मनन, आदि के अतिरिक्त स्वामी जी अभ्यास और वैराग्य को भी ज्ञान योग का अंग स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सभी का सम्बन्ध मन से है। मन बड़ा ही चंचल और बलवान है। मन का विरोध करना अत्यन्त कठिन है। मन के कारण ही शरीर क्षुब्ध होता है और इन्द्रियां परवश हो जाती हैं। मन अच्छेय भी है, अतः इसे अत्यन्त बलवान भी माना गया है। ऐसे चंचल और बलवान मन का विरोध करना दुष्कर कार्य है। इसके विरोध या नियन्त्रण के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है। इसके नियन्त्रण की आवृत्ति ही अभ्यास है। साधक को बारम्बार भोग में दोष-दर्शन करने का अभ्यास करना चाहिए। भोग में दोष दर्शन का अभ्यास भोग के प्रति अनिच्छा उत्पन्न करता है, साधक को भोग रोग के समान प्रतीत होने लगता है। भोग को रोग समझना ही भोग से विरक्ति या वैराग्य है। इस प्रकार मन के विरोध या नियन्त्रण के लिये अभ्यास और वैराग्य की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञान योगी केवल आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है। यह आत्मानन्द अमृत रस है। इस रस के बढ़कर कोई रस नहीं। अमृत रस का पान करने वाला ब्राह्म विषयों को रसहीन मानता है। अतः ज्ञानयोगी के लिए सभी ब्राह्म विषय विकर्षण की वस्तुएँ हैं, आकर्षण केवल आन्तरिक आत्मा में है।

भक्ति योग

भावना प्रधान व्यक्ति के लिए भक्तियोग है। भक्ति सेवा की भावना है। भगवान की सेवा कर भगवान से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। यह सम्बन्ध भगवान के प्रति उत्कृष्ट

प्रेम है। इस प्रेम के कारण ही भक्त भगवान के सम्मुख आत्म-समर्पण करता है और भगवान के रंग में रंग जाता है। भगवान के प्रेम में विभोर भक्त सब कुछ भूलकर भगवान को ही सर्वत्र देखने लगता है। उसकी श्रद्धा और आत्म-समर्पण से प्रसन्न हो परमात्मा उसे शरणागति प्रदान करते हैं। शरणागत भक्त परमात्मा का सामीप्य प्राप्त कर गद्गद् हो जाता है। इस प्रकार के प्रेम से परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग ही भक्तियोग है। परमात्मा के प्रति उत्कृष्ट प्रेम के कारण भक्तियोग प्रेमयोग भी कहलाता है।

भगवान का मनन, पूजन, उपासना, स्मरण, कीर्तन, ध्यान आदि करना ही भक्ति है। भक्त भगवान की प्रसन्नता के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करता है। वह अव्यक्त ब्रह्म का ध्यान नहीं करता, वरन् राम, कृष्ण आदि के रूप में व्यक्त भगवान की उपासना करता है। भक्त भगवान के सगुण रूप में अनुरक्त रहता है, निर्गुण रूप में नहीं अर्थात् वह साकार ईश्वर की उपासना करता है, निराकार की नहीं। भक्तियोग के लिए दो बातों की नितांत आवश्यकता है- अनन्य भाव और शरणागति भाव। भक्त भगवान को सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, सर्वस्व अपना एकमात्र स्वामी, प्रेरक, रक्षक मानता है, किसी अन्य को नहीं। परमात्मा ही उसका परम प्राप्य, परम-गति, परम-आश्रय है। अतः वह परमात्मा के नाम, रूप गुण, लीला का श्रवण, कीर्तन, मनन करता रहता है। यही भक्त ही अन्यय भक्ति और सर्वभाव शरणागति है। परमात्मा प्रसन्न हो उसे शरणागति प्रदान करते हैं, अपना सामीप्य प्रदान करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द नवधा भक्ति स्वीकार करते हैं। नवध भक्ति या भक्ति के शास्त्रोक्त नव प्रकार हैं- परमात्मा के गुणों का श्रवण करना, स्मरण करना, गुण-गान करना, परमात्मा की सेवा करना, पूजा करना, बन्दना करना, उसकी दासता स्वीकार करना, उनको ही अपना मित्र-सखा समझना, उनके सामने आत्मसर्पण करना। संक्षेप में इन्हें ही ईश्वर प्रेम कहते हैं। इसे प्राप्त करने के लिये ईश्वर की पूजा या बन्दना किया जाता है। यह सबसे सरल और सुलभ स्तर है। इसके अन्तर्गत मूर्ति-पूजा है। साधारण व्यक्ति मूर्ति-पूजा से ही ईश्वर के प्रति प्रेम प्रारम्भ करते हैं। मूर्ति-पूजा के माध्यम से व्यक्ति को दिव्यप्रेम की झांकी मिलती है। दूसरा स्तर ईश्वर के नाम जप, भजन, कीर्तन है। जब व्यक्ति का मन परमात्मा से रम जाता है तो वह उसके यश का गान करता है। इस यशोगान से व्यक्ति का प्रेम बढ़ता है। तीसरा स्तर तन्मयता है। व्यक्ति परमात्मा में पूरी तरह रम जाता है तथा सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता है। यही वसुधा का वासुदेव रूप है अर्थात् व्यक्ति सम्पूर्ण वसुधा में वासुदेव का दर्शन करता है। चौथा स्तर भक्ति की पराकाष्ठा है। इस स्तर पर भक्त और भगवान का भेद

समाप्त हो जाता है, भक्त भगवान रूप ही हो जाता है वह अपने को परमात्मा में तथा परमात्मा में अपने को देखता है। यही आत्मा और परमात्मा का एकीकरण है। इस प्रकार परमात्मा रूप की प्राप्ति भक्ति की पराकाष्ठा है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भक्ति मार्ग सबसे सरल और सुलभ है। इसके लिये किसी विशेष-शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नहीं। हमने भक्ति भावना का अभ्युदय ही पर्याप्त है। भक्ति भावना के लिए न तो कठोर तप आवश्यक है और न सूक्ष्म ज्ञान। केवल अन्य-भाव की आवश्यकता है। अन्य-भाव का सम्बन्ध अनुभूति की गहराई से है। जो इस गहराई तक पहुँच जाता है, उसे बाह्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं।

कर्म-योग

शरीर और इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वही कर्म कहलाता है। कर्म को करने वाला कर्ता कहलाता है जो किसी कामना या इच्छा से कोई कर्म करता है। कामना या इच्छा को कर्म की प्रेरणा कहते हैं। प्रेरणा शुभ या अशुभ दोनों हुआ करती हैं, अतः कर्म के परिणाम भी शुभ या अशुभ हुआ करते हैं। कामना और परिणाम दोनों कर्म के आवश्यक अंग हैं। दोनों का अस्तित्व भी सर्वदा एक साथ ही रहता है। अतः दोनों कारण और कार्य के समान सहवर्ती हैं। कर्म के साथ ये दोनों सर्वदा बने रहते हैं। कर्मयोग की विशेषता यह है कि यह केवल कर्म को ही स्वीकार करता है, कामना और परिणाम को नहीं। दूसरे शब्दों में कामना रहित होकर कर्म करना, परिणाम बिहीन होकर कर्म करना ही कर्मयोग है। इसे अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार कह सकते हैं कर्म दो प्रकार के होते हैं - सकाम और निष्काम। हम किसी कामना से प्रेरित होकर कोई शारीरिक या मानसिक कर्म करते हैं, किसी शुभ-अशुभ परिणाम की अपेक्षा से कोई कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, सुन्दर स्त्री और सुयोग्य पुत्र प्राप्त करने की कामना, धन-सम्पत्ति प्राप्त करने की ऐश्वर्य कामना, यश, कीर्ति नाम करने की यश कामना आदि। ये सभी सकाम कर्म हैं, क्योंकि किसी कामना से प्रेरित हैं। इन सभी कामनाओं के परिणाम या फल भी हैं। अतः इन्हें फलाकांक्षा से किया गया कर्म मानते हैं। दूसरे प्रकार का कर्म निष्काम है, जिसमें कामना नहीं है। ऐसे कामना रहित कर्म को फलाकांक्षा विहीन कर्म कहते हैं मनीषि और महात्माओं के निःस्वार्थ, परार्थ कर्म निष्काम माने जाते हैं। इन्हें कर्म योग कहते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि कामना रहित कर्म ही निष्काम है, कर्मयोग हैं। इसे ही आसक्त कर्म भी कहते हैं, क्योंकि फल या परिणाम की कामना ही आसक्ति है। आसक्ति सामान्यतः दो प्रकार की होती है- सुख प्राप्ति और दुख परिहार। कर्मयोगी इन

दोनों पर विजय प्राप्त कर लेता है और अनासक्त होकर कर्म करता है। वह सुख-दुख लाभ-हानि, जय-पराजय से परे होकर कर्म करता है। इस प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करने वाला कर्म करता हुआ भी अपने को कर्ता नहीं समझता, वरन् यह समझता है कि सभी कर्म इसकी शारीरिक और मानसिक इन्द्रियों द्वारा किये जाते हैं। कर्म करना तो कर्मेन्द्रियों का स्वभाव या धर्म है। अतः उसमें कर्म करने के कर्ता होने का अभिमान या अहंकार नहीं होता। इस प्रकार कर्त्तापन के अहंकार से मुक्त होकर कर्म करना कर्मयोग है। इस प्रकार कर्मयोग में दो प्रकार का त्याग है- आसक्ति का त्याग और अभिमान का त्याग।

स्वामी विवेकानन्द निष्काम कर्म या अनासक्त को कर्मयोग स्वीकार करते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा व्यक्ति अमरत्व (मोक्ष) की प्राप्ति कर सकता है अर्थात् निष्काम कर्म मोक्ष का साधक कर्म हैं।^१ इसका कारण है कि सकाम कर्म बन्धन का साधन है तथा निष्काम कर्म बन्धन का बाधक है। स्त्री पुत्र, धर्म, यश आदि के लिये किये गये कर्म सकाम है, फलाकांक्षा से प्रेरित है। इनके शुभ-अशुभ फल अवश्य प्राप्त होते हैं। इन फलों को भोगने के लिये हमें शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार सकाम कर्म की अनवरत धारा चलती रहती है और हम नाना योनियों में शरीर धारण कर भ्रमण करते रहते हैं। यही बन्धन है इसका विनाश तभी सम्भव है जब हम निष्काम कर्म करें। इस प्रकार अनासक्त कर्म करने वाले कर्मयोगी मोक्ष को प्राप्त कर अथवा अपने बन्धन का विनाश कर भी कर्म करते रहते हैं। यही जीवनमुक्त या बोधिसत्त्व की अवस्था है। स्वामी विवेकानन्द गौतम बुद्ध को महान कर्मयोगी मानते हैं। बुद्ध ने स्त्री-पुत्र आदि का त्याग कर अनवरत साधना से निर्वाण लाभ किया। परन्तु स्व निर्माण से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए। चालीस वर्षों तब अनवरत निःस्वार्थ धर्मोपदेश करते रहे। अन्त में अस्सी वर्ष की अवस्था में परिनिर्वाण लाभ किया। उसकी चालीस वर्षों तक अनवरत जन सेवा अनासक्त कर्म अथवा कर्मयोग का ज्वलन्त उदाहरण है।

राजयोग

अमरत्व की अनुभूति के लिये एक चौथा मार्ग भी है, जिसे स्वामी विवेकानन्द राजयोग कहते हैं। यह ज्ञान भक्ति और कर्म से भिन्न मार्ग है। यह शरीर और मन पर नियंत्रण करने का अत्यन्त कठोर मार्ग है। यह नियंत्रण अत्यन्त कष्ट साध्य है, अतः यह सबके लिये सुलभ मार्ग नहीं। कुछ विशेष के लोग ही इसके कठोर अनुशासन का पालन कर सकते हैं।

1. Karmayoga is intended to attain freedom through unselfishness and by good work. He works best who works without any motive and when a man can do that he will be a Buddha who represents the highest ideal of Karmayoga. p-131.

इसीलिए इसका नाम राजयोग है अर्थात् अन्य योगों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका फल तो अन्य योगों के समान ही है, परन्तु इस अनुशासन का पालन करना सर्वश्रेष्ठ 'साधक' का कार्य है। इस प्रकार यह दुर्गम तथा दुर्बोध मार्ग है। इसके साथ इस अनुशासन का सफल सर्वश्रेष्ठ साधक करना राजयोगी का कार्य है। परन्तु यह अनुशासन प्रायः महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के समान ही है।

राजयोग में सर्वप्रथम शरीर का नियंत्रण आवश्यक है। शरीर के साथ इन्द्रियाँ भी नियंत्रित होती हैं। शरीर और इन्द्रियों की स्वाभाविक गति भोग की ओर है। शरीर भोग का आयतन है और इन्द्रियों भोग का साधन है। इनके माध्यम से ही हम सांसारिक विषयों का भोग करते हैं। हमें इनकी स्वाभाविक गति को भोग से योग की ओर करना है। यह बड़ा ही कठिन कार्य है। शरीर और इन्द्रियों की स्वाभाविक गति पर नियंत्रण भी मन के नियंत्रित होने पर है। मन बड़ा चंचल है तथा यह वायु के समान गतिशील है। यह स्वभावतः सांसारिक विषय-भोगों की ओर प्रवृत्त होता रहता है। इन विषयों को सुखद मानकर इन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। इसके लिए आवश्यक है कि यह सुखद वस्तुओं को दुःखद, भोग को रोग स्वीकार करे। मन को नियंत्रित करने से शरीर और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। इन्द्रियों का व्यापार तो चित्त के व्यापार के अधीन है। अतः चित्त या मन के व्यापार बन्द होने पर इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द हो जाता है और रंजनीय, मोहनीय और कोपनीय विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध विच्छेद भी हो जाता है। मन और शरीर के नियंत्रण के साधक को कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं, जैसे अणिमा, महिमा, लघिमा आदि। ये सिद्धियाँ राजयोग के ऐश्वर्य हैं। जैसे राजा का ऐश्वर्य धन सम्पत्ति आदि है। ऐश्वर्य सम्पन्न राजयोगी ईश्वर को प्राप्त कर अमरत्व की अनुभूति करता है।

धर्म का स्वरूप-सार्वभौम धर्म

धर्म का स्वरूप बड़ा ही विवादास्पद है। इस विषय पर विद्वानों का मत एक नहीं, अनेक है। इन अनेक मतों से इतना तो निश्चित है कि हम जीवन और जगत को धर्म को जाने बिना धर्म नहीं समझ सकते। अतः धर्म को जीवन तथा जगत का अभिन्न अंग ही स्वीकार करना उचित है। यदि हमारा जीवन है तो जीवन है तो जीवन यापन का मार्ग या धर्म भी अवश्य है। इसी प्रकार यदि जगत है तो इसका आधार धर्म अवश्य है। अतः जीवन और जगत दोनों का आधार धर्म ही है। मानव इतिहास का ऐसा कोई काल नहीं जिसमें धर्म न रहा हो। इसी दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि मानव जाति के इतिहास का सबसे प्रमुख अंग धर्म है। इसीलिये मनुष्य जाति की नियति का सबसे अधिक प्रभावशाली

नियामक तत्व माना जाता है।^१ तात्पर्य यह है कि मानव जाति के इतिहास को धर्म के बिना नहीं समझा जा सकता। धार्मिक आस्थाओं के कारण ही मानव जाति के विभिन्न सम्प्रदाय बने और इन सम्प्रदायों का इतिहास ही मानव जाति का इतिहास है।

परन्तु धर्म जीवन और जगत का अनिवार्य अंग होते हुए भी इसके उद्देश्य जीवन और जगत के परे हैं। धर्म का बाह्य स्वरूप चाहे जैसा भी रहा हो, इसका आन्तरिक उद्देश्य परात्मकता से प्रेरित रहा है। इस परात्मकता को धर्म का आदर्श भी कहते हैं, जिसकी ओर धर्म उन्मुख रहता है। यही धर्म की आन्तरिक शक्ति है जो धर्म को अनुप्राणित करती रहती है। हम धर्म के माध्यम से परात्मकता के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास सतत करते हैं और इसीलिये धर्म कभी मरता नहीं, वरन् सतत् जीवित रहता है। हम कभी धर्म का परित्याग नहीं कर सकते। जब कभी हम धर्म का परित्याग करना चाहते हैं तो धर्म-परित्याग ही हमारा धर्म बन जाता है। इसका कारण यह है कि जो जीवन का अनिवार्य अंग है उसका निवारण असम्भव है। आधार का त्याग कर निराधार जीवन की कल्पना ही नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि धर्म जीवन का अनिवार्य अंग है और जगत का आधार है। इसीलिये कहा जाता है कि जीवन को सुचारुरूप से चलाने वाला तथा जगत की स्थिति का कारण धर्म ही है। इसे जीवन-जगत का सार कह सकते हैं। सारहीन जीवन निस्सार है और जगत निराधार है।

जीवन और जगत के सार के स्वरूप को समझना सरल नहीं। हम साधारणतः पूजा-पाठ, हवन स्तवन आदि बाह्य आचरणों को ही भूल से धर्म मान लेते हैं। ये आचरण तो आन्तरिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। धार्मिक अनुभूति और धार्मिक अभिव्यक्ति में पहला आन्तरिक है दूसरा बाह्य। अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है, अतः अनुभूति प्रधान है तथा अभिव्यक्ति गौण है। वरीयता तथा प्राथमिकता अनुभूति की ही स्वीकार करनी होगी, क्योंकि इसके अभाव में अभिव्यक्ति निराधार और निरर्थक होगी। परन्तु हम गौण को ही प्रधान समझने की भूल करते हैं। इसीलिये धर्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ पाते। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि धर्म की सही समझदारी धार्मिक अनुभूति के बिना असम्भव है। इस धार्मिक अनुभूति को ही सच्ची धार्मिकता भी कहते हैं। धार्मिकता ही धर्मबोध या धार्मिक चेतना है। धर्मबोध या धार्मिक चेतना के तीन अंग हैं-ज्ञान भावना और क्रिया। इन्हें ही धार्मिकता के विविध पक्ष भी कहते हैं। ये विविध पक्ष प्रायः सभी धर्मों में

1. Of all the forces that have worked and are still working to mould the destiny of the human race, none certainly is more potent than religion. Janan yoga P.I.

विद्यमान है, परन्तु सबमें समानतः नहीं। किसी में ज्ञान की प्रधानता है तो किसी में भावना या भक्ति की तो किसी में क्रिया की। जिससे ज्ञान चिन्तन, मनन की प्रधानता होती है वह ज्ञानात्मक धर्म कहलाता है। जिसमें भावना या भक्ति की प्रधानता होती है उसे भावात्मक धर्म और जिसमें क्रिया की प्रधानता होती है उसे क्रियात्मक धर्म मानते हैं।

इन विविध पक्षों के अतिरिक्त धार्मिक अनुभूति या चेतना का एक और आवश्यक अंग है, जिसे अप्राकृतिक या अतिप्राकृतिक माना जाता है। इसकी अप्राकृतिकता का कारण यह है कि यह प्रकृति-प्रसूत सत्व, रज और तम आदि विविध गुणों के परे हैं। इसे गुणातीत भी कहते हैं। यह गुणातीत तत्व भावना या भक्ति प्रधान धर्म के लिये व्यक्तित्व पूर्ण ईश्वर हो सकता है। ईश्वर सगुण तो है, परन्तु मानवीय, प्रकृतिक गुणों के परे अतिमानवीय या अति प्राकृतिक गुणों से परिपूर्ण होता है। यह ज्ञानात्मक या ज्ञानप्रधान धर्म के लिये परम तत्व निरपेक्ष सत् हो सकता है। यह निरपेक्ष निर्गुण तथा निराकार तत्व है। क्रिया प्रधान या क्रियात्मक धर्म के लिये यह अप्राकृतिक नियम हो सकता है जो सभी प्राकृतिक नियमों के परे हो। इस अप्राकृतिक अंश को दैविक अंश भी कहते हैं। सगुण, निगुण, शाश्वत तथा चिन्तन नियम आदि सभी दैविक हैं, भौतिक नहीं। इनके अप्राकृतिक, दैविक अंश के कारण ही इनको अभौतिक या आध्यात्मिक भी कहते हैं। इस प्रकार किसी रूप में आध्यात्मिक धार्मिक अनुभूति या चेतना का आवश्यक अंग है। इसी दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि धर्म का उद्देश्य आध्यात्मिकता का अनावरण करना है। प्रत्येक धर्म एक आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। यही धार्मिक आदर्श आध्यात्मिक है।

धार्मिक अनुभूति (त्रिवर्ग सहित) और आध्यात्मिक के साथ धर्म के स्वरूप की तीसरी विशेषत सार्वभौमता है। धर्म का सार्वभौम होना नैतिक मूल्यों पर आधारित है। प्रत्येक धर्म में कुछ नैतिक मूल्य होते हैं। जैसे-अहिंसा, सत्य, असत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य आदि ये नैतिक मूल्य समाज के लिए आवश्यक हैं। सत्य का पालन करना तथा असत्य का परित्याग करना सभी समाज के लिये मूल्यवान हैं। कोई भी समाज असत्य के आधार पर सुचारू रूप से चल नहीं सकता। हम सर्वदा सत्य बोलें, इसकी आवश्यकता सबके लिये है। अतः ये नैतिक मूल्य मानव समाज के लिये आवश्यक हैं। इन नैतिक मूल्यों के कारण ही धर्म सामाजिक होता है। धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप (देवी अंश) को हम किसी सीमा तक अस्वीकार भी कर सकते हैं, परन्तु इसके नैतिक मूल्यों को कदापि नहीं। धर्म ईश्वर को माने बिना भी जीवित रह सकता है। परन्तु नैतिक मूल्यों को माने बिना तो धर्म का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। नैतिक मूल्य तो धर्म को सार्वभौम रूप

प्रदान करते हैं तथा इन मूल्यों के कारण ही धर्म सामाजिक भी बनता है। धर्म आध्यात्मिक अवश्य है, परन्तु असामाजिक नहीं।

धर्म के स्वरूप की व्याख्या के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द धर्म के सामान्य अंगों का वर्णन भी करते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक धर्म के तीन अंग होते हैं जिन्हें धर्म के तीन पक्ष भी कहते हैं। ये पक्ष हैं—मिथक, कर्म और दर्शन। मिथक पक्ष के अन्तर्गत धार्मिक गाथायें हैं। इन गाथाओं के माध्यम से अभूर्त सत्य मूर्त दिखलायी पड़ता है। यदि ईश्वर के विराट रूप को हमें दिखलाना या सिद्ध करना है तो हम विभिन्न अवतार सम्बन्धी गाथाओं के माध्यम से इस विराट रूप का रोचक वर्णन करते हैं।

किसी धर्म के लम्बे समय में अनेक चमत्कारी कथाओं का वर्णन आता है, जिससे ईश्वर की अद्भूत विराट शक्ति सिद्ध होती है। कर्म धार्मिक कृत्य है, जिनके माध्यम से धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति होती है। इन कृत्यों के माध्यम से धर्म का परम्परागत रूप स्पष्ट होता है। दर्शन तो धार्मिक सिद्धान्तों की बौद्धिक व्याख्या पक्ष है। दर्शन के माध्यम से धार्मिक सत्यों को सुसंगत रूप में समझा जा सकता है। इसके लिये तर्क की आवश्यकता होती है और तर्क के सहारे धार्मिक सत्य सुस्पष्ट होते हैं। ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करना एक दार्शनिक पक्ष है। हम तर्क या प्रमाणों से ईश्वर का साक्षात्कार भले ही न हो परन्तु इनसे ईश्वर के अस्तित्व की अवधारणा तो अवश्य स्पष्ट होती है। इस प्रकार धर्म के तीनों अंग संप्रयोजन हैं निष्प्रयोजन कोई नहीं। साथ ही ये तीनों अंग प्रायः सभी धर्मों में पाये भी जाते हैं। अतः ये धर्म को सार्वभौम रूप भी प्रदान करते हैं।

सार्वभौम धर्म: सार्वभौम धर्म अत्यन्त विवादस्पद है। कुछ विद्वान इसकी सम्भावना स्वीकार करते हैं। अतः सार्वभौम धर्म को वास्तविक मानते हैं। कुछ विद्वान इसकी सम्भावना नहीं स्वीकार करते। अतः इसे काल्पनिक मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सार्वभौम धर्म की सम्भावना है। अतः यह वास्तविक है। परन्तु उनका सार्वभौम धर्म सभी धर्मों से भिन्न एक विशेष प्रकार का धर्म नहीं जिसे सभी स्वीकार करते हैं। ऐसे किसी धर्म की स्थापना आज तक नहीं हुई जिसे सभी लोग सामान्यतः स्वीकार करें। अतः सार्वभौम धर्म का अर्थ सर्वत्र सुलभ कोई विशेष धर्म नहीं। उनके अनुसार कोई भी धर्म सार्वभौम हो सकता है यदि उसमें भेद-भाव न हो, उसका द्वार सबके लिये खुला हो, यदि वह मानवतावादी हो। सभी धर्म मनुष्यों के लिये, मानव के जीवन-यापन के मार्ग हैं, अतः मानवतावादी हैं, सार्वभौम हैं। यदि मानव में मानवता है और मानवता सार्वभौम है तो सभी धर्म भी मानव धर्म नहीं, वरन् किसी धर्म का मानवतावादी स्वरूप है। यह बिल्कुल वास्तविक है। जिस

प्रकार सत्य सार्वभौम हो सकता है उसी प्रकार धर्म भी सार्वभौम हो सकता है। स्वामी जी सार्वभौम धर्म का नया स्वरूप बतलाते हैं।

सार्वभौम धर्म सम्भावना को अस्वीकार करने वालों का कहना है कि धर्म सार्वभौम नहीं बन सकता। धर्म तो जीवन-यापन का मार्ग है। किसी विशेष धर्म को मानने वाले किसी प्रकार में जीवन यापन करते हैं। इस विशेष धर्म को मानने वालों की जीवन शैली में समानता होती है, जिसके द्वारा आधार पर धर्मावलम्बियों का एक सम्प्रदाय बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म एक सम्प्रदाय है। जो एक सम्प्रदाय है वह सार्वभौम कैसे, कहा जा सकता है? दूसरी बात यह है कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में शत्रुता स्वाभाविक है। इस प्रकार के जीवन यापन करने वालों के लिये सम्प्रदाय की मान्यताएँ जीवन का अंग बन जाती हैं। इस सम्प्रदाय के लोगों को सभी गुण अपने ही सम्प्रदाय में दिखलायी पड़ते हैं तथा दूसरे सम्प्रदाय में स्वभावतः अवगुण दिखलायी पड़ते हैं। इसी से सम्प्रदायों का द्वेष बढ़ता है तथा द्वेष संघर्ष का भी रूप ले लेता है। उनकी दृष्टि अपने सम्प्रदाय तक ही सीमित होती है। जिसकी दृष्टि सीमित है वह संकुचित है और संकुचित सार्वभौम नहीं बन सकता। तीसरी बात यह है कि धार्मिक शिक्षाओं में भेद है। हिन्दू धर्म में आध्यात्मिकता पर बल दिया जाता है तो इस्लाम में विश्व-बन्धुत्व पर और ईसाई धर्म में प्रेम और सेवा पर। इस प्रकार किसी का प्रबल पक्ष आध्यात्मिकता है तो किसी की भौतिकता। इस प्रकार सभी धर्मों में विषमता है तथा जिसमें विषमता है वह सार्वभौम नहीं हो सकता। चौथी बात यह है कि सभी धर्मों की ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों भिन्न रही हैं। कोई धर्म किसी काल में किसी स्थान में जन्म लेता है, विकसित होता है। सबों के स्थान और काल में भेद है। अतः किसी को सार्वभौम और सार्वकालिक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वामी विवेकानन्द इन सभी आक्षेपों का उत्तर देते हैं तथा बतलाते हैं कि सार्वभौम धर्म सार्वभौम सत्य के समान सम्भव है। धर्म जीवन यापन का मार्ग है। यह सम्प्रदाय भी अवश्य है। परन्तु सम्प्रदाय की सीमित और संकुचित नहीं होना चाहिए। सम्प्रदाय के द्वार सबके लिए खुला होना चाहिये। हमें सम्प्रदाय का संकोच नहीं विस्तार करना चाहिये। इन सम्प्रदायिक मान्यताओं के मानवीय मूल्यों को सभी मानव स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मानवीय मूल्यों की प्रबलता से धर्म सार्वभौम हो सकता है। मानवीय मूल्यों की महत्ता को स्वीकार करने वालों में शत्रुता नहीं, प्रेम-भाव की बुद्धि होगी। प्रायः हम धर्म के बाह्य स्वरूप को ही देखते हैं और आन्तरिक मूल्यों को नहीं देखते। इसके कारण द्वेषभाव जन्म लेता है। यदि आन्तरिक मूल्यों को देखे तो द्वेष प्रेम में परिवर्तित हो सकता है। कोई धर्म

पाप, अनाचार और झूठ को बढ़ावा नहीं देता। अत्याचार और अनाचार सभी धर्मों में अवगुण और दोष माने जाते हैं। यदि सभी धर्म इन धार्मिक मूल्यों को स्वीकार करते हैं तो धर्म सार्वभौम हो सकता है। यह सत्य है कि सभी धर्म न तो एक स्थान पर जन्म लिये हैं और न एक काल में विकसित हुए हैं। विभिन्न धर्मों में स्थान और काल का भेद अवश्य है, परन्तु सबों के स्वरूप में समानता है। सभी धर्मों में दर्शन, मिथक और कृत्य है। ये सभी की विकास-प्रक्रिया के अंग हैं। इसी प्रकार धार्मिक शिक्षाओं में विषमता है। कोई अध्यात्मिक को प्रबल मानता है तो कोई विश्व-बन्धुत्व को। परन्तु आध्यात्मिकता और विश्व बंधुत्व का कोई निषेध भी नहीं करता। विश्व बंधुत्व पर कोई बल देता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरा इसे अस्वीकार करता है, इसके विरोध में तर्क देता है। मात्रा-भेद से गुण-भेद नहीं सिद्ध हो सकता। यदि सबों में गुणात्मक साम्य सम्भव है तो सार्वभौम धर्म की। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द सार्वभौम धर्म की सम्भावना स्वीकार करते। उनके अनुसार यह कोई विशेष धर्म नहीं वरन् किसी भी धर्म का सार्वभौम रूप है। किसी धर्म के सार्वभौम होने के लिये निम्न आवश्यकताएँ हैं -

(क) धर्म में सहिष्णुता होनी चाहिये। हमें अन्य धर्मों को सहन करके की शक्ति होनी चाहिए। गुण सभी धर्मों में हैं तथा सभी गुण मेरे ही धर्म में नहीं हैं। यदि किसी अन्य सम्प्रदाय में कोई गुण है तो उसे हमें निःसंकोच और निःसन्देह होकर ठाहण करना चाहिए। इतना ही नहीं, हमें दूसरे धर्मों या सम्प्रदायों में गुणों को देखने का सतत् अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार सहिष्णुता हठधर्मिता का अन्त या अभाव है।

(ख) स्वीकृति-यह अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय को स्वीकार करना है। यदि हम अन्य धर्मों तथा धार्मिक मूल्यों को स्वीकार करें तो धार्मिक द्वेष का अपने आप अन्त हो जायेगा। विभिन्न धर्मों में शत्रुता का भाव इस लिये जन्म लेता है कि हम अन्य को अस्वीकार करते हैं। इसका अन्त स्वीकृति से सम्भव है। स्वीकृति से कटुता समाप्त होगी और सौहार्द्र तथा प्रेम बढ़ेगा। अतः सौहार्द्र के लिए स्वीकृति आवश्यक है।

(ग) समानता का अवलोकन। विभिन्न धर्मों का बाह्य स्वरूप तो अवश्य भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबों में आन्तरिक समानता भी है। उदाहरणार्थ, ईश्वर धर्म का केन्द्र बिन्दु है। ईश्वर ही वह आदर्श है जिसकी ओर धर्म अठासर होता है। ईश्वर के नाम अनेक हो सकते हैं, परन्तु सभी ईश्वर के ही नाम हैं। ईश्वर की महानता सभी नामों से स्पष्ट होती है। अतः विभिन्न नाम तो एक ही विराट के भिन्न सकेत हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्म एक ही ईश्वर के विभिन्न वर्णन हैं। इस प्रकार ईश्वर तो समान रूप से सभी में है। वर्णन भेद से वस्तु-भेद नहीं हो सकता। सभी वर्णन ईश्वर के ही वर्णन हैं।

इस प्रकार किसी भी धर्म में यदि सहिष्णुता, स्वीकृति, समानता आदि का भाव हो तो वह धर्म सार्वभौम हो सकता है। हमें सभी धर्मों का सम्मान करना चाहिये तभी हमारा धर्म सार्वभौम हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द का कहना है-भूतकाल में जितने भी धर्म हैं मैं उन सबको मानता हूँ और उनकी पूजा करता हूँ। मैं उनमें में प्रत्येक में चाहे जिस रूप में वे उसकी पूजा करते हों, ईश्वर की पूजा करता हूँ। मैं मुसलमान की मस्जिद में जाऊँगा, मैं ईसाई के रिरिजों में जाऊँगा और क्रॉस के सामने घुटने टेकूँगा। मैं बौद्ध मन्दिर में जाकर बुद्ध की शरण लूँगा। मैं जंगल में जाकर हिन्दू के साथ ध्यान लगाकर प्रकाश देखने का प्रयास करूँगा। इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी मंदिर, मस्जिद, गिरिजा घर में ईश्वर की प्रार्थना कर सकते हैं। यही सार्वभौम प्रार्थना है। यह सार्वभौम प्रार्थना सार्वभौम धर्म की स्वीकृति है। यह सार्वभौम धर्म उनके गुरु स्वामी रामकृष्ण देव के महान उपदेश को बारम्बार दुहराते हैं कि सभी धर्मों में आध्यात्मिक सत्य निहित है। अतः हमें सभी धर्मों के आध्यात्मिक सत्य को स्वीकार करना चाहिये, सबके प्रति सम्मान, सौहार्द्र रखना चाहिये।

हिन्दू धर्म का सार्वभौम रूप: स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के पक्षधर थे, परंतु इसके सार्वभौम स्वरूप के समर्थक थे। उनके अनुसार हिन्दू धर्म दुरूह पंथों, अंधविश्ची कर्मकाण्डों और परम्परागत मतवादों का पुंज नहीं। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म मानव जाति के उद्धार के लिये, आध्यात्मिक, नैतिक, मानवतावादी धर्म है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म तो अन्य धर्मों का जनक है। वैदिक से वैश्वधर्म तक सभी हिन्दुत्व के प्रतिनिधि हैं। इसीलिये वे विद्यार्थियों को भी अपने धर्म से सम्मिलित करने को स्वीकार करते थे। वे हिन्दू धर्म की विशालता, उदारता पर बल देते थे। वे इसके पुरोहितवाद के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार पुरोहितवाद तो धर्म का संकोच है, प्रसार नहीं और प्रसार ही जीवन और संकोच मृत्यु है। अतः हिन्दू धर्म के प्रसार में पुरोहितवाद और कर्मकाण्ड को बाधक मानते थे। उनके अनुसार हिन्दू धर्म तो एक व्यापक सत्य है जिसमें सभी समाहित हो सकते हैं। जाति प्रथा और अस्पृश्यता हमारे धर्म के शत्रु हैं। इनकी भर्त्सना करना प्रत्येक हिन्दू का पुनीत कर्तव्य है। वे अद्वैत वेदांती थे, अतः एक ही परमतत्त्व, परमेश्वर का निवास मानव मानते थे। सभी में एक ही तत्त्व समाहित है, अतः सभी एक हैं। ऊँच और नीच में, धनी और निर्धन में कोई भेद नहीं, सबमें अभेद और समता है। इस एकात्मवादी, मानवतावादी दृष्टिकोण से स्वामी जी वे दलितों और दरिद्र की सेवा को परमेश्वर की पूजा मानते थे। उनके अनुसार दरिद्र नारायण की पूजा सबसे बड़ी पूजा है। उनका उद्गार उन्हीं के शब्दों में-मुझे इस बात की चिंता नहीं कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान अथवा ईसाई, किंतु जिन्हें ईश्वर से प्रेम है

उनकी सेवा के लिये मैं सर्वदा तत्पर रहूँगा। मेरे बच्चों। अग्नि में कूद जाओं यदि तुम्हें विश्वास है तो तुम्हें सब कुछ मिल जायेगा। हममें से प्रत्येक को दिन-रात उन करोड़ों दरिद्रों के लिये प्रार्थना करनी चाहिए जो दरिद्रता पुरोहितों के जंजाल तथा अत्याचार में जकड़ें हुए हैं, उनके लिये प्रार्थना करें।

स्वामी जी कहा करते थे- 'संसार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अद्भुत ठान्थ है। वेद, पुराण, गीता, बाईबिल इत्यादि सब इसी ठान्थ के कुछ पन्ने हैं। हमें अतीत की बातों को ठाहण करना होगा, वर्तमान की ज्ञान ज्योति का उपयोग करना होगा और भविष्य में होने वाली ज्ञानवर्धक बातों को ठाहण करने के लिए अपने हृदय द्वारों को सदैव खुला रखना होगा।^१ लोग कहते हैं- 'पितृ देवी भवः मातृ देवो भवः अर्थात् माता ही देव है, पिता ही देव है। परन्तु स्वामी जी कहा करते थे-दरिद्र देवों भवः मूर्ख देवों भवः' अर्थात् दरिद्र ही देव है, मूर्ख ही देव है।

स्वामी जी के अनुसार हमें आवश्यकता है मन की एकाठाता की। मन की एकाठाता के लिए ब्रह्मचर्य, सदाचार और बल का होना अति आवश्यक है। हमें अन्धविश्वास को त्यागना होगा। उठो, जागो और जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर भी प्राप्त प्रयत्नशील रहो। 'मैं' न मुक्ति चाहता हूँ न भक्ति, मैं मद्य रौख नरक को भी प्राप्त करने के लिए तैयार हूँ। जिस प्रकार बसन्त पूरे लोग की सेवा करती है उसी प्रकार लोगों की सेवा करना भी मेरा धर्म है।



डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन सम्भवतः भारत के सर्वप्रथम दार्शनिक थे, जिन्हें जीवन काल में ही सर्वोच्च दार्शनिक सम्मान मिला, उन्हें देश का सर्वोच्च राष्ट्रपति पद मिला। उनके राष्ट्रपति होने पर बुद्धिजीवी वर्ग ने स्वर से घोषणा किया कि प्लेटो की भाविष्यवाणी सत्य हो गयी-देश का सर्वोच्च शासक दार्शनिक होना चाहिए। उनका जन्म ५ सितम्बर १८८५ में मद्रास प्रान्त के तीरुतनी नामक स्थान में हुआ जो मद्रास से ४० मील दूर है। उनकी शिक्षा मद्रास के क्रिश्चियन कालिज में हुई और वे मद्रास के पेसिडेन्सी कालिज में हुई और वे मद्रास के पेसिडेन्सी कॉलिज में दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। १९१८ में ये मैसूर विश्वविद्यालय में प्रध्यापक बने। १९३९ से १९५२ तक ये सोवियत रूस से भारत के राजदूत थे। १९५२ में ये भारतीय गणतन्त्र के उपराष्ट्रपति बने और १९६० में ये भारत के राष्ट्रपति बने। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतने लम्बे समय तक ये कार्यपालिका के सर्वोच्च पद पर रहे, परन्तु दर्शन की सेवा कभी नहीं छोड़ा। इनके ग्रंथ अनेक हैं-

१. रेन आफ रिजन इन कम्टेम्पोररी फिलासफी
२. इण्डियन फिलासफी (दो भाग)
३. द हिन्दू विड आफ लाइफ
४. आइडियलिस्ट विड आफ लाइफ
५. इस्ट एंड वेस्ट इन रिलीजन, गौतम-द बुद्ध
६. इस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, इण्डिया एण्ड चीन
७. रिलीजन एण्ड सोसाइटी
८. एजुकेशन पालिटिक्स एण्ड बार
९. भगवद्गीता
१०. धम्मपद
११. द प्रिंसिपल उपनिषद
१२. ब्रह्मसूत्र
१३. रिकभरी आफ फेथ

दर्शन का स्वरूप

श्री राधाकृष्णन के दार्शनिक विचार पूरब और पश्चिम दोनों से प्रभावित हैं। अतः कभी-कभी उन्हें पूरब और पश्चिम का सम्पर्क अधिकारी (Liason Officer) भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि वे दोनों दर्शनों के महान ज्ञाता थे। दोनों दर्शनों के बीच एक लम्बा दरार है। श्री राधाकृष्णन इस दरार को हटाना चाहते थे तथा दोनों को निकट लाना चाहते थे। इसी कारण उन्हें सम्पर्क अधिकारी समझा जाता था। सम्पर्क अधिकारी के समान आचरण कर वे दोनों की दूरी को समाप्त करना चाहते थे। वे मूलतः अद्वैत वेदान्त के समर्थक थे, और उनका सम्पूर्ण दर्शन अद्वैत परम्पराओं के अनुकूल हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार परम तत्त्व एक, अद्वैत रूप है जो सभी विकारों के परे हैं। इसे निर्विकार तथा निर्विरोध तत्त्व (ब्रह्म) कहते हैं। परम तत्त्व भौतिक नहीं, अभौतिक या आध्यात्मिक हैं इसकी संख्या एक है तथा स्वरूप आध्यात्मिक है। इस एक तत्त्व को किसी की अपेक्षा नहीं, यह स्वयं पूर्ण है, स्वतंत्र है। इसे ही निरपेक्ष अध्यात्मवाद (Absolute idealism) कहते हैं। इसे ही एकवादी अध्यात्मवाद (Monistic Idealism) भी कहते हैं। यह भारतीय तथा पाश्चात्य अध्यात्मवाद का सुन्दर समन्वय है। अतः हम कह सकते हैं कि श्री राधाकृष्णन पूरब और पश्चिम का समन्वय करने वाले दार्शनिक हैं। उनके शब्द प्रायः पाश्चात्य दर्शन के हैं, परन्तु उनके भाव पूर्णतः अद्वैत वेदान्ती हैं। इसीलिये कुछ लोग उनके दर्शन को अद्वैत वेदान्त का नया रूप भी मानते हैं। अतः उन्हें नव्य वेदान्ती भी कहते हैं।

श्री राधाकृष्णन के अनुसार दर्शन अन्तर्दृष्टि (Vision) कहते हैं। यह शुद्ध बौद्धिक ज्ञान नहीं वरन् आत्म साक्षात्कार है। बौद्धिक ज्ञान विमर्शात्मक और विश्लेषणात्मक (analytical) होता है। यह वाह्य ज्ञान है, जिससे हम बाह्य संसार को समझ सकते हैं। परन्तु आन्तरिक तत्त्व का बोध हमें अन्तर्दृष्टि से तत्त्व की अनुभूति की शक्ति से मिलता है। तत्त्व एक है, सम्पूर्ण प्रकृति इसी का परिणाम है। इस एक तत्त्व को ही ब्रह्मा या आत्म तत्त्व कहते हैं। इस सम्पूर्णता की अनुभूति अन्तर्दृष्टि से ही हो सकती है। इसीलिये दर्शन को संश्लेषणात्मक अनुभूति भी माना गया है। अपनी ज्ञान-मीमांसा में श्री राधाकृष्णन ने इसकी विशद-विवेचना की है।

ज्ञान मीमांसा (Epistemology) : ज्ञान मीमांसा को प्रमाण मीमांसा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें प्रमाण और प्रामाण्य पर विचार किया जाता है। ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। हमें भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है, जिसके साधन भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु कोई साधन यथार्थ है या अयथार्थ- यह प्रामाण्य का प्रश्न है। इस प्रकार ज्ञान-मीमांसा में प्रमाण

और प्रामाणिकता का प्रश्न प्रमुख है। श्री राधाकृष्णन अपनी ज्ञान मीमांसा में इन दोनों प्रश्नों पर विचार करते हैं। प्रथम यह है कि ज्ञान के साधन या प्रमाण कितने हैं, क्या सभी साधनों से समानतः यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है? श्री राधाकृष्णन के अनुसार ज्ञान के साधन (प्रमाण) तीन हैं-

- (क). इन्द्रिय ज्ञान (Sense experience)
- (ख). बौद्धिक ज्ञान (Intellectual cognition)
- (ग). अन्तर्दृष्टि ज्ञान (Intuitive apprehension)

इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान है। हमें आँख, कान, नाक, और त्वचा आदि इन्द्रियाँ हैं, जिनसे हमें रूप-रस गन्ध-स्पर्श शब्द आदि का ज्ञान होता है। इसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रमाण भी कहते हैं। रूप-रस गन्ध आदि का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ये सभी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत हैं। इन्हें सत्य ज्ञान या साक्षात् अनुभव भी कहते हैं, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ विषयों के सम्पर्क में आती हैं, और हमें विषयों का सत्य या साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है, क्योंकि इसमें किसी अप्रत्यक्ष या परोक्ष साधन की आवश्यकता नहीं। अतः इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान का साक्षात् स्तर है। यह यथार्थ ज्ञान का सर्वप्रथम स्तर है। इस स्तर पर हमें सभी बाह्य विषयों का इन्द्रियानुभव होता है।

ज्ञान का दूसरा स्तर बौद्धिक ज्ञान है। इस स्तर पर हमारी बुद्धि सक्रिय रहती है। बुद्धि की प्रधानता के कारण ही इसका नाम बौद्धिक ज्ञान है। इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं, क्योंकि इसमें विषयों का सद्यः साक्षात्कार नहीं होता। अतः यह प्रत्यक्षानुभूति नहीं, वरन् परोक्षानुभूति है। अनुमान आदि प्रमाण इसी के अन्तर्गत आते हैं। बुद्धि विमर्शात्मक है। विमर्श बुद्धि की वह प्रक्रिया है जिससे किसी विषय का विश्लेषण और संश्लेषण किया जाता है। हम किसी विषय का विश्लेषण उनके अगप्रत्यंगों में करते हैं, पुनः सबको एकत्र करते हैं। अतः विश्लेषण करना तथा एकत्रीकरण करना बुद्धि का कार्य है। इसीलिये श्री राधाकृष्णन बौद्धिक ज्ञान को विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक (analytic-synthetic) मानते हैं। संवेदनायें वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं, अतः वस्तुजन्य हैं। परन्तु ये संवेदनायें पृथक-पृथक होती हैं, इन्हें समानता या असमानता के आधार पर एकसूत्र में बाँधना बुद्धि का कार्य है, तभी हमें किसी एक विषय का ज्ञान प्राप्त हो पाता है। यही विमर्शात्मक ज्ञान बौद्धिक है। यह प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है, क्योंकि बुद्धि को विषयों का सद्यः साक्षात्कार नहीं होता। ज्ञान की सामग्री तो इन्द्रियों से प्राप्त होती है और इस सामग्री को बुद्धि ज्ञान का उपकरण बना देती है। अतः बुद्धि

से उत्पन्न ज्ञान परोक्ष है। इसे प्रतीकात्मक (symbolic) भी कहा जाता है, क्योंकि बुद्धि प्रतीकों का प्रयोग करती है। हमारी बुद्धि में कुछ जन्मजात प्रतीक हैं जिनका प्रयोग आवश्यक है। इन प्रतीकों को हम आकार भी कहते हैं। अतः बौद्धिक ज्ञान आकारिक (formal) भी कहा जाता है।

श्री राधाकृष्णन इन्द्रिय जन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष को ज्ञान का स्रोत या साधन तो अवश्य स्वीकार करते हैं, परन्तु अयथेष्ट या पूर्णतः प्रामाणिक नहीं। इसकी अयथेष्टता के कारण निम्न है—

(क) इन्द्रिय ज्ञान संवेदना है और संवेदनाओं से वस्तुओं के बाह्य स्वरूप का परिचय मिलता है, आन्तरिक स्वरूप का नहीं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि संवेदनायें हैं। इनसे बाह्य वस्तुओं के स्वरूप का परिचय हमें मिल जाता है, परन्तु इनसे ही हमें यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। यथार्थ ज्ञान के लिये वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप का परिचय भी आवश्यक है। इसीलिये कहा जाता है कि इन्द्रिय जन्य संवेदना ज्ञान का उपकरण या सामग्री है जो यथार्थ ज्ञान का एक अंश है, सम्पूर्ण ज्ञान नहीं।

(ख) इन्द्रिय ज्ञान के भी अनेक स्तर हैं। संवेदनाओं का ग्रहण, प्रथम स्तर है, परन्तु संवेदनाओं का गुण और धर्म के अनुसार वर्गीकरण, नामकरण आदि अन्य आवश्यक स्तर भी हैं। इन स्तरों के अभाव में प्रथम स्तर अधूरा तथा अयथेष्ट होगा।

(ग) इन्द्रिय ज्ञान से ज्ञानात्मक प्रक्रिया का प्रारम्भ तो हो सकता है, परन्तु इसका अन्त नहीं। यह सत्य है कि ज्ञान की प्रक्रिया संवेदनाओं से प्रारम्भ होती है। यह प्राथमिक स्तर तो है, परन्तु अत्यन्त सरल है। ज्ञान एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें संवेदनाओं का ग्रहण से लेकर इनकी शाब्दिक अभिव्यक्ति तक अनेक जटिल स्तर हैं। अतः इन्द्रिय ज्ञान को ही ज्ञान स्वीकार कर लेना तो आदि को अन्त मान लेना है। यह मान्यता आवश्यक होते हुए भी अपर्याप्त है।

(घ) इन्द्रिय ज्ञान प्रथम ज्ञान का साधन है, परन्तु सबसे अधिक भ्रान्त भी है। प्रायः सभी ज्ञान शास्त्री इसे स्वीकार करेंगे कि सबसे अधिक भ्रम प्रत्यक्ष में ही होता है। इसीलिये भ्रम के सभी सिद्धान्त प्रत्यक्षात्मक ही हैं। जो सर्वाधिक भ्रान्त है वह पूर्णतः प्रामाणिक नहीं।

(ङ) जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान सरल है, उसी प्रकार इसमें भ्रम भी स्वाभाविक ही है। आँखों से हमें रूप का ज्ञान होता है, एक ही विषय या वस्तु के दो रूपों (विरोधी रूपों) का दर्शन भी आँख रहने पर ही होता है। उदाहरणार्थ, एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा

का दर्शन (द्विचन्द्र दर्शन) भी स्वाभाविक है। पृथ्वी स्थिर और सूर्य चलायमान हमें स्वभावतः दिखलायी पड़ता है, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर हर क्षण चक्कर काटती है। दिग्भ्रमित होना तो सर्व स्वाभाविक है। अतः जिसमें भ्रम की सबसे अधिक मात्रा हो वह अवश्य अपर्याप्त है।

(च) इन्द्रियां सभी जीवों में है। इन्द्रिय पशु तथा मनुष्य दोनों में प्रायः समान ही है, परन्तु रूप ज्ञान पशु और मनुष्य को समान नहीं होता। अतः यह मान्यता अपूर्ण है कि इन्द्रियों से ही समान इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे समान इन्द्रिय ज्ञान नहीं माना जा सकता।

श्री राधाकृष्णन इन्द्रिय ज्ञान को आवश्यक तथा उपयोगी तो मानते हैं, परन्तु अयथेष्ट तथा अपर्याप्त। इससे संवेदनाओं का ग्रहण तो हो सकता है, परन्तु सत् के स्वरूप को उपलब्धि में यह अक्षम और असमर्थ है। सत् का स्वरूप पूर्ण है वह अपूर्ण तथा अयथेष्ट साधन से प्राप्त नहीं हो सकता।

हुसी प्रकार श्री राधाकृष्णन बौद्धिक ज्ञान को भी ज्ञान का स्रोत या साधन तो स्वीकार करते हैं, परन्तु यह भी अयथेष्ट तथा अपर्याप्त है। इसे विमर्शात्मक ज्ञान भी कहते हैं। इसके अयथेष्ट होने के कारण निम्न है।

(क) बौद्धिक ज्ञान परोक्ष है। इसे प्रत्यक्ष या इन्द्रिय ज्ञान पर आधारित स्वीकार किया जाता है। इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री पर ही बौद्धिक विमर्श कार्य करता है। इसे स्वतंत्र साधन नहीं स्वीकार किया जा सकता।

(ख) बौद्धिक ज्ञान आकारों (forms) तथा प्रतीकों (symbols) के माध्यम से क्रियाशील होता है। इसके उपकरण तो इन्द्रिय-जन्य है अर्थात् संवेदनाएँ इन्द्रियों के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं। इन संवेदनाओं को बुद्धि अपने आकारों द्वारा व्यवस्थित करती है। परन्तु यह व्यवस्था एकांगी है। अतः केवल बौद्धिक व्यवस्था से अपूर्ण ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है।

(ग) बौद्धिक ज्ञान में ज्ञाता और क्षेय का द्वैत स्वाभाविक है। ज्ञाता चेतन तथा ज्ञेय अचेतन है। इस प्रकार यह जड़-चेतन के द्वैत का स्तर है। परम तत्त्व तो एक, अद्वैत रूप है। यह पूर्णतः चेतन है। अतः इसके स्वरूप को ग्रहण करने में बुद्धि असमर्थ है। जो स्वयं चेतन-अचेतन दोनों है, वह केवल शुद्ध चेतन को ग्रहण करने में समर्थ नहीं।

(घ) बौद्धिक ज्ञान आंशिक होता है। इससे वस्तु का ग्रहण अंशतः होता है। सत् सम्पूर्ण है, इसका अंश सम्भव नहीं। अतः अंश को ग्रहण करने वाला सम्पूर्ण को ग्रहण करने में असमर्थ है।

(ड) वस्तुतः सत् बुद्धि की सीमा के परे है। इसीलिये विश्लेषण और संश्लेषण के माध्यम से कार्य करने वाली बुद्धि सत् को ग्रहण नहीं कर पाती। सत् का न तो विश्लेषण सम्भव है और न संश्लेषण ही। सत् तो एक है, पूर्णतः असम्बद्ध है। जो सम्बन्धों की अनेकता के माध्यम से कार्य करती है, वह असम्बद्ध एकता को ग्रहण नहीं कर सकती।

अन्तर्दृष्टि (Intuition)

अन्तर्दृष्टि ज्ञान का सर्वोच्च साधन है। इसकी परिभाषा सम्भव नहीं, परन्तु उसकी अनुभूति सम्भव है। परिभाषा तो बुद्धि की देन है। परन्तु जो बुद्धि के परे है, वह बुद्धि के द्वारा परिभाषित नहीं हो सकती। श्री राधाकृष्णन इस अंतर्दृष्टि को सद्यः ज्ञान, साक्षात् ज्ञान, तात्कालिक बोध आदि विभिन्न शब्दों से स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार सत् की सद्यः अनुभूति होती है, अतः सद्यः अनुभूति ही सत्योपलब्धि का साधन है। इसे ही अन्तर्दृष्टि कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रज्ञा (Vision) है। प्रज्ञा से हमें बोध तो होता है, परन्तु एक विशेष प्रकार का। इसकी विशेषता यह है कि इसका विषय और विषयी (ज्ञेय और ज्ञाता) एक ही होता है। अन्तर्दृष्टि का विषय है आत्मा और इसका विषयी भी आत्मा ही है। अतः यह ज्ञात क्षेत्र के द्वैत के परे, अद्वैत का बोध है। आत्मा ही परम सत् है और इसकी उपलब्धि का एक मात्र साधन अन्तर्दृष्टि है। आत्मबोध अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान है, यह न इन्द्रियगम्य है और न बुद्धिगम्य है। इस आन्तरिक बोध को ही अन्तर्दृष्टि कहते हैं। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं-

(क). अन्तर्दृष्टि तात्कालिक ज्ञान है। इसे सद्यः प्रसूत ज्ञान या साक्षात्ज्ञान (immediate knowledge) भी कहते हैं। सत् की उपलब्धि साक्षात् अनुभव है। इसके लिये न तो किसी माध्यम की आवश्यकता है और न किसी प्रतीक की अपेक्षा। आत्मबोध सद्यः प्रस्फुटित ज्ञान है। इसे साक्षात् प्रकाश भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण सत् सद्यः प्रकाशित हो जाता है। इसका न तो कोई आधार है, न क्रम। अचानक हमें आत्मानुभूति का प्रकाश मिलता है, जिसमें हमें सम्पूर्ण सत् पूर्णतः प्रकाशित प्रतीत होता है।

(ख). अन्तर्दृष्टि तादात्म्य ज्ञान है। यह विषय और विषयी की एकरूपता है। साधारण स्तर पर इन दोनों में द्वैत है, दोनों का स्वभाव तथा कार्य क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न है। ज्ञान का विषय अचेतन या जड़ है, परन्तु ज्ञान का विषयी या ज्ञाता चेतन है। जड़ और चेतन का स्वभाव विरोधी है। परन्तु यह विरोध वाह्य है। आन्तरिक अनुभूति की एकरूपता में दोनों का समन्वय हो जाता है, दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं। आत्म साक्षात्कार की स्थिति में ज्ञात-ज्ञेय दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं।

(ग). अन्तर्दृष्टि में सम्पूर्णता का बोध होता है। इस सम्पूर्णता में जानना होने का माध्यम (knowing by becoming) है। आन्तरिक विषयों के ज्ञान में ज्ञाता क्षयरूप विषय बन जाता है। हम आन्तरिक विषयों का आत्मसात् कर ही उसे यथार्थ रूप में जान पाते हैं। परम सत् का ज्ञान हमें परम सत् होकर ही होता है। अतः सत् का ज्ञान तो सत् रूप होना है। इस प्रकार सत् का साक्षात्कार और सत् की उपलब्धि में अभेद है।

(घ). अन्तर्दृष्टि स्वतः प्रमाण है। इसकी परीक्षा अन्य प्रमाणों के आधार पर नहीं की जा सकती। इसीलिये स्वीकार किया जाता है कि अन्तर्दृष्टि स्वयं अपना निर्णय लेती है। इसके निर्णय पर किसी का नियंत्रण नहीं। इसका निर्णय अन्तिम है। इसे चुनौती देने या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। इसे स्वयं प्रकाश भी कहा जाता है। इसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं।

(ङ). अन्तर्दृष्टि में भूल या भ्रान्ति की सम्भावना नहीं। इसीलिये इसे ज्ञान का अभ्रान्त साधन भी माना जाता है। ज्ञान में भूल होना स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि भूल या भ्रान्ति भी ज्ञान का ही एक रूप है। भ्रम अन्यथा या अयथार्थ ज्ञान है, परन्तु ज्ञान रूप ही है। इसीलिये ज्ञान के सभी साधनों के लिये भ्रमशून्य होना अनिवार्य माना गया है, क्योंकि ज्ञान का भ्रमसहित होना स्वाभाविक है। अन्तर्दृष्टि ज्ञान का अन्तिम साधन है, जहाँ भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं। अतः यह ज्ञान का अभ्रान्त साधन है।

अन्तर्दृष्टि की उपरोक्त सभी विशेषताओं में जानना और होना की एकरूपता सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः अन्तर्दृष्टि सत् का आत्मसात् रूप है। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। प्रेम क्या है? इसका यथार्थ ज्ञान हमें प्रेम की परिभाषा जानकर नहीं हो सकता। प्रेम सम्बन्धी साहित्य को पढ़कर कोई प्राणी सच्चा प्रेमी नहीं बन सकता। सच्चे प्रेम की गहराई में प्रवेश आवश्यक है। प्रेम की गहराई प्रेम की आन्तरिक अनुभूति या अन्तर्दृष्टि है। अनुभूति की इस गहराई में प्रेमी प्रेमिरूप ही बच जाता है, अतः वह सर्वत्र प्रेमरूप का दर्शन करता है। इसमें प्रेमी और प्रेम का द्वैत पूर्णतः समाप्त हो जाता है।^१ शिव होकर ही शिव को जाना जा सकता है। अतः सत् का ज्ञान तो सत् को आत्मसात् करना है।

१. तुलना करें-

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।

लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गई लाल।। सन्त कबीर

सियाराम मय सब जग जानी।

करौ प्रणाम जोरि जुग पाणि।। सन्त तुलसी

अन्तर्दृष्टि की विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् यह आवश्यक है कि ज्ञान के अन्य साधनों से इसका सम्बन्ध क्या है? क्या यह अन्य साधनों से नितान्त असम्बद्ध है? **अन्तर्दृष्टि और इन्द्रियानुभव-** इन दोनों में समानता यह है कि दोनों साक्षात् या तात्कालिक ज्ञान है। दोनों में किसी प्रतीक या माध्यम की आवश्यकता नहीं। दोनों को किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं। परन्तु इतना होते हुए भी दोनों भिन्न-भिन्न साधन हैं। इन्द्रियानुभव आदि साधन है तो अन्तर्दृष्टि अंतिम। पहले का कार्य दूसरे प्रमाण पर निर्भर नहीं। इतना होने पर भी प्रत्यक्ष या इन्द्रियानुभव स्वतः प्रमाण नहीं, परन्तु अन्तर्दृष्टि है। पहला प्राथमिक होने के कारण किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं, परन्तु दूसरा अन्तिम प्रमाण है, इसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसीलिये इन्द्रियानुभव स्वतः प्रमाण नहीं, परन्तु अंतर्दृष्टि है। पहले के बाद प्रमाण और प्रामाण्य की सीमा प्रारम्भ होती है, दूसरे के बाद समाप्त हो जाती है। पहले में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत रहता है, दूसरे में द्वैत के स्थान पर अद्वैत हो जाता है। अतः दोनों में भेद हैं।

बौद्धिक ज्ञान और अन्तर्दृष्टि- दोनों ही ज्ञान के स्तर हैं, दोनों में विषय-बोध होता है। परन्तु दोनों के बोध में अन्तर है। पहला परोक्ष है, तो दूसरा प्रत्यक्ष। पहले में किसी प्रतीक या आकार की आवश्यकता है तो दूसरे में नहीं। पहले का स्वरूप विमर्शात्मक है तो दूसरे का प्रस्फुटात्मक। पहला ज्ञान का स्तर है तो दूसरी अनुभूति की विधा। पहले में सत् के स्वरूप का विवरण और विश्लेषण होता है तो दूसरे में सत् का साक्षात्कार होता है। पहले में ज्ञाता-ज्ञेय का अद्वैत है तो दूसरे में अद्वैत का अनुभव है। इसीलिए प्रथम स्तर पर मानव सत् को समझने का प्रयास करता है तो दूसरे स्तर पर मनुष्य स्वतः सत् - रूप हो जाता है। परन्तु श्री राधाकृष्णन अन्तर्दृष्टि और बुद्धि को नितान्त विरोधी नहीं स्वीकार करते। इनका कहना है कि बुद्धि और अन्तर्दृष्टि में सहयोगी है। अन्तर्दृष्टि से सत् की उपलब्धि होती है, परन्तु यह व्यक्तिगत है। इसे सार्वजनिक होना आवश्यक है। यदि सत् को व्यक्ति तक ही सीमित स्वीकार कर लिया जाय तो सत् का स्वरूप संकुचित होगा। इसे सार्वभौम तथा सामान्य होना आवश्यक है। इसके लिये सत् का तार्किक व्याख्या तथा बौद्धिक विश्लेषण आवश्यक हैं। सत् तो दुद्धयातीत या तर्कातीत है, परन्तु इसे बुद्धिगम्य या तर्कगम्य होने के लिये बुद्धि की परिधि में आना ही होगा, अन्यथा यह सार्वभौम न हो सकेगा। सत् को बुद्धिगम्य तथा तर्कगम्य बनाकर इसे सार्वभौम स्वरूप प्रदान करना बुद्धि का काम है। सत् अन्तर्दृष्टि से अनुभूत है, परन्तु सत् के लिये बुद्धि उपयोगी और सहायक है। बौद्धिक ज्ञान के बिना सत् सार्वभौम नहीं बन सकता। दूसरी ओर, अन्तर्दृष्टि सत् की उपलब्धि का

समुचित साधन है। सत् एक है, सम्पूर्ण है। इसकी एकता तथा सम्पूर्णता की अनुभूति अन्तर्दृष्टि से ही होती है। इसी कारण सत् की उपलब्धि में अनुभूति को ही एक मात्र प्रमाण माना जाता है, न कि बुद्धि को। इस अनुभूति सत् का विस्तार या व्याख्या बुद्धि करती है। अतः अन्तर्दृष्टि बुद्धि को विचार या व्याख्या की सामग्री प्रदान करती है। इससे अन्तर्दृष्टि बुद्धि की सहायता करती है। इस प्रकार एक की देन सामग्री या उपकरण है तो दूसरे की देन सार्वभौम स्वरूप है। दोनों की आवश्यकता है, तथा दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा भी है। अतः दोनों साधनों की पारस्परिक आकांक्षा तथा सहयोग को देखते हुए दोनों को विरोधी या नितान्त विपरीत नहीं माना जा सकता है। इनका क्षेत्र पृथक है, दोनों में किसी का अतिक्रमण भी नहीं। दोनों सत् की उपलब्धि में सहायक है, सहयोगी है, सहचारी है।

निरपेक्ष परमतत्त्व (Absolute)

निरपेक्ष वह है कि जिसे किसी की अपेक्षा या आवश्यकता न हो। इस दृष्टि से परम तत्त्व ही निरपेक्ष माना जाता है; क्योंकि परम या अन्तिम होने के कारण किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। हम कह सकते हैं कि अन्त को भी आदि की अपेक्षा है, अतः वह निरपेक्ष कैसे? ऐसा नहीं। आदि को अन्त की अपेक्षा है, परन्तु अन्त तो अन्त है, इसे आदि की अपेक्षा नहीं। इसी कारण निरपेक्ष परम तत्त्व को अनादि माना जाता है। अनादि का प्रारम्भ नहीं और न विनाश। इसीलिये इसे अज, अविनाशी या नित्य माना जाता है। यहाँ पर आदि या आरम्भ का सम्बन्ध किसी काल या समय से है। जो किसी काल में जन्म नहीं लेता, किसी काल में मरता नहीं, वह भूत वर्तमान और भविष्य आदि सभी कालों के परे कालातीत भी स्वीकार किया जाता है। वह किसी एक दिशा या स्थान में नहीं, वरन् सभी दिशाओं में व्याप्त सर्वव्यापक भी स्वीकार किया जाता है। इसीलिये परम तत्त्व को नित्य और सर्वव्यापक कहते हैं। प्रश्न है कि नित्यता और सर्वव्यापकता तो उस परम तत्त्व का स्वरूप है, जिनसे स्पष्ट होता है कि परम तत्त्व देश और काल के परे है। परन्तु वह परम तत्त्व देश और काल के परे होते हुए भी परम तत्त्व भौतिक, आध्यात्मिक आदि रूपों में क्या है? मनुष्य इन्हीं रूपों में सभी तत्त्वों को समझता है, अतः वह स्वभावतः समझना चाहता है कि परम तत्त्व का स्वरूप भौतिक है, आध्यात्मिक है, या अभौतिक है।

श्री राधाकृष्णन का कहना है कि उसी तत्त्व को परम तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है, जिससे अन्य सभी भौतिक-अभौतिक तत्त्वों की समुचित व्याख्या हो सके तथा जो अपनी भी समुचित व्याख्या कर सके। इसके लिये परम तत्त्व को सर्वाधार और स्वतः व्याख्येय होना आवश्यक है। सर्वाधार वह है जो सबका '(भौतिक-अभौतिक का) कारण

होते हुए भी स्वयं अकारण हो, स्वयंभू हो। ऐसा सर्व शक्ति सम्पन्न तथा स्वयंभू तत्त्व भौतिक नहीं हो सकता अर्थात् परम तत्त्व भौतिक नहीं हो सकता। भौतिक तत्त्व भौतिक वस्तुओं के कारण तो अवश्य होते हैं, परन्तु यह कारणता कालिक है और यांत्रिक है। भौतिक तत्त्व एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं, परन्तु जो उत्पन्न होता है वह जिससे उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा विकसित होता है। इसी प्रकार भौतिकवादी या प्रकृतिवादी विचारकों का कहना है कि प्रत्येक भौतिक वस्तु का विकास होता है। कुछ भौतिक वस्तुओं में संयोग होता है, जिसके फलस्वरूप किसी अन्य भौतिक वस्तु का विकास होता है। सम्पूर्ण प्रकृति ही विकास की अवस्था में है। प्रत्येक वस्तु का विकास होता है। सम्पूर्ण प्रकृति ही विकास की अवस्था में है। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन हो रहा है और नये-नये रूप आते रहते हैं। अतः भौतिकवादी विचारक विकास वाद को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस विकास का कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं। यह विकास यांत्रिक गति से होता रहता है। श्री राधाकृष्णन का कहना है कि इसमें कई दोष हैं-

(क). इसके अनुसार परमतत्त्व कालिक होगा। एक भौतिक वस्तु का विकास दूसरी से किसी काल या समय में होता है। अतः सर्वप्रथम भौतिक वस्तु जिसे परम तत्त्व कहते हैं, वह भी किसी काल में ही होगा। यह उचित नहीं। परम तत्त्व कालातीत है।

(ख). इसके अनुसार भौतिक वस्तुओं का विकास होता है, परन्तु यह विकास निष्प्रयोजन या अन्धा है। यह जगत का विकास यांत्रिक स्वीकार करता है। परन्तु अचेतन, यन्त्र से चेतन जगत की व्याख्या सम्भव नहीं।

इस तर्कों के आधार पर श्रीराधाकृष्णन स्वीकारते हैं कि भौतिक जगत का मूल कारण या परम तत्त्व भौतिक नहीं हो सकता तथा इससे अभौतिक जगत की व्याख्या सम्भव नहीं। यदि परम तत्त्व भौतिक नहीं तो अभौतिक या अध्यात्मिक है।

सम्पूर्ण प्रकृति में दो ही प्रकार की वस्तुएँ दिखलायी पड़ती हैं- अचेतन (भौतिक) और चेतन (आध्यात्मिक)। इनका परम कारण तत्त्व यदि अचेतन नहीं तो अवश्य ही चेतन अथवा आध्यात्मिक है। यदि हम आध्यात्मिक है तो इससे भौतिक जगत की व्याख्या होनी चाहिये। श्री राधाकृष्णन् का कहना है कि भौतिक जगत की समुचित व्याख्या के लिये हमें भौतिक जगत की व्यवस्था तथा प्रयोजन पर विचार करना होगा। संसार की सभी वस्तुओं का संचालन किसी नियम या व्यवस्था से होता है। यह अचेतन नहीं, चेतन है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् चेतन की अभिव्यक्ति है। परन्तु इस अभिव्यक्ति के स्तर हैं, न्यूनाधिक मात्रा का भेद है। परन्तु सभी स्तरों में गुणात्मक अभेद अर्थात् सभी चेतना के ही स्तर हैं। अतः

परम तत्त्व परम चेतन है। श्री राधाकृष्णन के अनुसार परम चेतना ही सभी स्तरों में अभिव्यक्त है, अतः विभिन्न स्तर चेतना की अभिव्यक्ति है। अतः परम तत्त्व (चेतन) ही पत्थर में सोता है, पौधों में श्वास लेता है, पशुओं में संवेदना है, तथा मानव में आत्म-चेतन है।^१ तात्पर्य यह है कि आत्म चेतन तक सभी चेतना के स्तर हैं। यही परम तत्त्व है। इसे श्री राधाकृष्णन शुद्ध चेतना (pure consciousness) भी कहते हैं। भौतिक जगत के विभिन्न स्तर शुद्ध चेतना की अभिव्यक्ति है। दूसरा प्रश्न यह है कि परम तत्त्व स्वतः व्याख्येय होना चाहिये। चेतना के लिए किसी अचेतन की आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर अचेतन को चेतन की आवश्यकता है। अचेतन भौतिक वस्तुओं में सामंजस्य और संगठन की व्याख्या चेतन तत्त्व के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार चेतन ही सर्वाधार है, परन्तु स्वयं निराधार है। चेतना का आधार नहीं, अतः चेतना निरपेक्ष है, परम तत्त्व है। इस निरपेक्ष परम तत्त्व के कई लक्षण श्री राधाकृष्णन बतलाते हैं--

(क). यह शुद्ध चेतना है। पाषाण जगत, वनस्पति जगत, पशु जगत तथा मानव जगत आदि सभी चेतन है। मानव जगत आत्म चेतन है। यह चेतना की उच्चतर श्रेणी त्रय स्तर है। इससे उच्चतम स्तर शुद्ध चेतना है। यह समाष्टि की चेतना है, इसे विश्व चेतना या परम चेतना ब्रह्मा भी कहते हैं।, यह पूर्णतः निर्विकार चेतना का स्तर है। यह शुद्ध ज्ञान का स्तर है। इसे ही शुद्ध चेतना (pure consciousness) कहते हैं।

(ख). यह शुद्ध स्वतन्त्रता (Pure freedom) है। परमतत्त्व निरपेक्ष है, इसे किसी की अपेक्षा नहीं। प्रकृति के विभिन्न स्तर पर चेतना विद्यमान है। सभी स्तरों में चेतना की अभिव्यक्ति है। सभी स्तरों पर चेतना स्वयं अपना निमित्त और उपादान दोनों है। यह किसी पर आश्रित या अधारित नहीं। यह चेतना की पूर्ण परमतत्त्व को सर्वाधार परन्तु स्वयं निराधार स्वीकार किया जाता है।

(ग). यह अनन्त सम्भावनाओं (infinite possibilities) का अगार है। परम तत्त्व (पूर्णतः चेतन) में सभी प्रकार की सम्भावनाएँ हैं। अनेक स्तरों पर इसकी अभिव्यक्तियाँ। सिद्ध करती है कि न्यूनाधिक चेतना की सम्भावना इसमें विद्यमान है। अतः कोई भी स्तर इसकी सम्भावना की वास्तविकता है। यदि संसार में सभी वस्तुओं या विषयों का अभाव स्वीकार कर लिया जाय फिर यह स्वीकार करना ही होगा कि अस्तित्व की चेतना होगी, अन्यथा शून्य से अस्तित्व का भाव स्वीकार करना होगा, जो असम्भव है।

१. The Absolute reveals itself in all these but differently in each. The ultimate reality sleeps in the stone, breaths in the plants, feels in the animals and awakens to self consciousness in man. S. Radhakrishnan : The Reign on Religion in Contemp- phil. p. 143

(घ). यह वर्णनातीत है। वर्णन तो वाणी के द्वारा सम्भव है। जो वाणी के परे ही उसका यथार्थ वर्णन भी सम्भव नहीं। वर्णन तो शब्दों के माध्यम से होता है। परन्तु जिसके लिये कोई उपयुक्त शब्द नहीं वह शब्दातीत तथा वर्णनातीत है। शब्द तो ससीम है, इससे असीम का वर्णन सम्भव नहीं। परन्तु असीम, अनन्त, निरपेक्ष परम तत्त्व का शब्दों के सहारे संकेत किया जा सकता है। परन्तु मात्र यह संकेत है, निदर्शन है, विवरण नहीं।

ईश्वर विचार

श्री राधाकृष्णन् अद्वैत वेदान्त हैं, अशः उनका ईश्वर विचार भी अद्वैत परम्परा के अनुरूप ही है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक, अद्वैत, ब्रह्म या आत्मा ही परम तत्त्व है। यह तत्त्व ही सत् तथ इसके अतिरिक्त कोई भी तत्त्व सत् नहीं। ईश्वर भी पारमार्थिक दृष्टि से असत् है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत् है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत् है तो जगत् का कर्ता भी सत् है। यदि जगत् की सत्ता स्वीकार करें और इसका कर्ता ईश्वर को माने तो कार्य अकारण होने का दोष होगा। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से न जगत् है और न जगत् का कर्ता। दूसरी बात यह है कि धार्मिक भावना के लिए ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है। निर्गुण ब्रह्म हमारी दार्शनिक बुद्धि को तो स्वीकार करना आवश्यक है : ईश्वर उपास्य देव है और मनुष्य उसका उपासक। इस भक्ति-भावना के लिये भगवान और भक्त दोनों को मानना आवश्यक है। परन्तु भक्त और भगवान का भेद भी व्यावहारिक है। पारमार्थिक रूप से भक्त और भगवान दोनों ब्रह्म है, दोनों में अभेद है, यही साध्य है, भक्ति-साध्य नहीं।^१

श्री राधा कृष्णन अद्वैत वेदान्ती हैं और ईश्वर को भी असत् नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि धर्म के लिये ईश्वर आवश्यक है। धार्मिक दृष्टि से भक्त और भगवान का भेद आवश्यक है। परन्तु वे व्यवहार और परमार्थ में भेद नहीं मानते तथा व्यावहारिक दृष्टि से सत् और पारमार्थिक दृष्टि से असत् नहीं मानते। अतः निर्गुण और सगुण में भेद नहीं है। ये परम तत्त्व (ब्रह्म या आत्म तत्त्व) को तो मानते हैं तथा यह भी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर भी परम तत्त्व रूप हैं। उनका कहना है कि परमसत् निरपेक्ष है, परन्तु अनन्त सम्भावनाओं से पूर्ण है। सृष्टि उसकी एक सम्भावना का साकार रूप है। यह असत् नहीं सत् है। प्रश्न है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि सत् तो परमतत्त्व (निरपेक्ष सत्) और ईश्वर का सम्बन्ध क्या है? श्री राधा कृष्णन का कहना

१. Pure Being, which is the Absolute can be only be indicated. It can be alluded to but not described.

है कि निरपेक्ष ही सृष्टि की अपेक्षा के बिना परम तत्त्व या सत है। परन्तु यही सृष्टि की अपेक्षा से अर्थात् सृष्टि कर्ता के रूप में ईश्वर है। इस प्रकार निरपेक्ष सृष्टि कर्ता ईश्वर का पूर्ण रूप है और सृष्टि कर्ता ईश्वर निरपेक्ष है सृष्टि की सम्भावनाओं की दृष्टि से।^१ इस प्रकार ईश्वर परम तत्त्व पर निरपेक्ष दृष्टि से विचार करते हैं तो वह निर्गुण है और सृष्टि-सापेक्ष दृष्टि से विचार करते हैं तो वह सगुण ईश्वर हैं।

श्री राधाकृष्णन् ईश्वर की सत्ता के लिए कुछ तर्क या युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं-

(क). कार्य-करण मूलक तर्क-ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है। यदि सृष्टि सत् है और तो सत कार्य अकारण नहीं उत्पन्न हो सकता। अनन्त विचित्रताओं से भरी हुयी सृष्टि का कर्ता अनन्त परमात्मा या ईश्वर ही हो सकता है, अन्यथा इसमें अकारण या अहेतुक कार्य की उत्पत्ति का दोष होगा।

(ख). प्रयोजनमूलक तर्क-सृष्टि सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं। संसार में सामन्जस्य, व्यवस्था है। सभी चर या अचर का संचालन किसी परम चेतना या परमात्मा के अधीन है। परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा इसका संचालन नहीं हो सकता। अतः सृष्टि संचालनक तथा संरक्षक के रूप में ईश्वर की सत्ता अवश्य है।

(ग). नीतिमूलक तर्क-नैतिक नियमों को स्वीकार किये बिना सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित की व्याख्या नहीं हो सकती। हम कर्म करते हैं तथा फल भोगते हैं। परन्तु कर्म तथा फल का निर्णय करने वाला कोई परम चेतना परमात्मा अवश्य है, जो सुख-दुःख, शुभ अशुभ का विधान करता है। अचेतन कर्म न तो स्वयं फल दे सकता है और न भविष्य का विधान ही कर सकता है।

(घ). अन्तर्दृष्टि - मानव ज्ञान का सर्वोत्तम साधन या सर्वोच्च स्रोत तो अन्तर्दृष्टि है। इसके द्वारा ही सान्त मानव को अनन्त परमात्मा की अनुभूति होती है। इस अनुभूति से हमारा लौकिक जीवन अलौकिक या दिव्य बन जाता है। यह स्वतः प्रमाण है। इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। इसे अद्वैत और अनन्त की अन्तरतम अनुभूति भी कहते हैं। यह वर्णन के परे हैं तथा इसका स्वरूप बुद्धि के परे हैं। यह अन्तर्दृष्टि अनन्त परमात्मा की अनुभूति है। अतः परमात्मा का अस्तित्व है।

१. We call the Supreme the Absolute when we view it apart from the cosmos, God in relation to the cosmos, The Absolute is the pre-cosmic nature of God and God is the Absolute from the cosmic point view.

S. Radhakrishnan : An idealist view of life P. 145.

इन तर्कों या युक्तियों से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है, अतः ईश्वर का अस्तित्व है। वस्तुतः ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये किसी तर्क की आवश्यकता नहीं। ईश्वर तो तर्कातीत है। सभी तर्क बुद्धि की देन है, और ईश्वर बुद्धि के परे अन्तर्दृष्टि का विषय है। अतः अन्तर्दृष्टि या स्वानुभूति ही परमात्मा के अस्तित्व का एक मात्र प्रमाण है। परन्तु इन तर्कों को निष्प्रयोजन नहीं माना जा सकता। ये ईश्वर साधक तर्क है जिनसे ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। इनके सहारे हम समझ पाते हैं कि ईश्वर यदि है तो क्या है। अन्त में श्री राधाकृष्णन् बतलाते हैं कि परमात्म या ईश्वर ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश (त्रिविध) रूप है। वह ब्रह्मा के रूप में सृष्टि कर्ता है, विष्णु के रूप में सृष्टि का पालक है तथा शिव के रूप में निर्णायक हैं। ईश्वर के विविध रूप पूर्णता के तीन स्तर हैं।^१ सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता तीनों ईश्वर ही हैं। सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त तीनों ईश्वर ही हैं। तीनों रूप अनन्त सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

जगत विचार

श्री राधाकृष्णन् अद्वैत वेदान्त के समर्थक दार्शनिक अवश्य है, परन्तु सृष्टि (जगत) और सृष्टिकर्ता (ईश्वर) की अद्वैतवादी व्याख्या को नहीं स्वीकार करते। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सृष्टि और सृष्टिकर्ता व्यावहारिक दृष्टि से सत् है, पारमार्थिक दृष्टि से असत्। श्री राधाकृष्णन दोनों को सत् मानते हैं। उनके अनुसार सृष्टि सत् तथा सृष्टिकर्ता भी सत् है। प्रश्न यह है कि सृष्टि क्या है? श्री राधाकृष्णन के अनुसार पमरतत्व निरपेक्ष सत् अनन्त सम्भावनाओं से युक्त है। इसमें से एक सम्भावना की अभिव्यक्ति सृष्टि या जगत है। इसी के कारण परम तत्त्व सृष्टि कर्ता या ईश्वर कहलाता है। ईश्वर असत् नहीं। प्रश्न यह है कि सृष्टि का स्वरूप क्या है। श्री राधाकृष्णन् उपनिषद का अनुगमन करते हुए कहते हैं कि सृष्टि सृष्टिकर्ता की लीला या क्रीड़ा है। लीला या क्रीड़ा का कोई पूर्व नियोजित स्वरूप या क्रम नहीं होता। क्रीड़ा का इच्छुक जब चाहे, जैसे चाहे क्रीड़ा कर सकता है। उसके लिये न तो विवशता है और न बन्धन। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। इसीलिये उपनिषदों में कहा गया है उसने इच्छा और सृष्टि हो गयी। इसका न तो कोई पूर्व निश्चित रूप है और न कोई प्रयोजन।

श्री राधाकृष्णन के अनुसार सृष्टि तो सृष्टिकर्ता की आकस्मिक अभिव्यक्ति है। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि अनिवार्य अभिव्यक्ति नहीं। ईश्वर यदि चाहे तो सृष्टि कर सकता

१. The one God creates as Brahma, redeems as vishnu and judges as Shiva, These represent the three stages of the Plan. Ibid.

है, नहीं भी कर सकता है, किसी दूसरे प्रकार से कर सकता है। परम तत्त्व तो सभी प्रकार के सामर्थ्य से युक्त है- कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं। यदि करना और न करना दोनों उसकी इच्छा के अधीन है तो सृष्टि उत्पन्न करना तो आकस्मिक ही है, अनिवार्य नहीं। वह कभी एक से अनेक होने की इच्छा करता है और इच्छा की अभिव्यक्ति चराचर जगत के अनेक तत्वों में होती है। परन्तु ईश्वर की एकरूपता समाप्त नहीं होती। वह एक होकर भी जगत के अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने की इच्छा किया और अनेक में हो गया। यही अभिव्यक्ति जगत के अनेक रूपों में अभिव्यक्त होने की इच्छा किया और अनेक में हो गया। यही अभिव्यक्ति जगत है। इसमें अनिवार्यता नहीं, केवल आकस्मिकता है। यही जगत की उत्पत्ति का स्वरूप है।

जगत की उत्पत्ति के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि जगत का विकास कैसे होता है? विकास मुख्यतः दो प्रकार का होता है- यौत्रिक और प्रयोजनात्मक। श्री राधाकृष्णन् यौत्रिक विकास नहीं मानते। उनके अनुसार यह विकास अन्धे यंत्र के समान नहीं है। इसमें कोई नियम, क्रम तथा व्यवस्था नहीं। यह शुद्ध अचेतन विकास है अथवा भौतिक विकास है। इसमें दोष यह है कि यह वस्तुओं का विकास किसी काल में स्वीकार करता है। उनके अनुसार कालातीत ईश्वर से कालिक अभिव्यक्ति का प्रश्न निरर्थक है। वे विकास की प्रयोजनवादी व्याख्या स्वीकार करते हैं। यह भौतिक नहीं, अभौतिक या आध्यात्मिक है। जगत के विकास में व्यवस्था, क्रम नियम और सामंजस्य है। इस विकास का प्रयोजन है पूर्णता को प्राप्त करना। अतः विकास प्रयोजनात्मक है। जगत की व्यवस्था नैतिक नियमों को प्राप्त करना। अतः विकास प्रयोजनात्मक है। जगत की व्यवस्था नैतिक नियमों के अनुसार होती है और यह जगत का प्रयोजनवादी विकास है। इस प्रयोजनवादी विकास से साथ एक और प्रश्न है- विकास का अगला स्तर पिछले से भिन्न है या अभिन्न? श्री राधाकृष्णन का कहना है कि अगल स्तर नया स्तर है। इस स्तर पर नये रूपों का विकास होता है। अतः विकास का प्रत्येक चरण नया है। अतः अगले चरण का पता पिछले चरण को देखकर नहीं लग सकता। अतः नवीनता का पूर्वानुमान नहीं हो सकता। परन्तु सभी स्तरों का विकास प्रयोजनपूर्ण है, निष्प्रयोजन कोई नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि श्री राधाकृष्णन केवल जगत को ही नहीं वरन् सभी जागतिक विविधताओं और विचित्रताओं को भी सत् मानते हैं। यह जगत है और विविधतापूर्ण है। यही एक ईश्वर का अनेक रूपों में अभिव्यक्त है। इसमें एक ईश्वर सत् है तथा उसकी अनेकधा अभिव्यक्ति भी सत् है। यह माया या मिथ्या नहीं। श्री राधाकृष्णन जगत को माया की सृष्टि नहीं मानते। माया तो ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति है।

मानव स्वरूप

श्री राधाकृष्णन् मानव स्वरूप को पूर्ण स्वीकार करते हैं। यह पूर्णता मानव व्यक्तित्व की विशेषता है जो अन्य प्राणियों में प्राप्त नहीं होता। इस पूर्णता के दो आवश्यक तथा अपृथक् अंश हैं- भौतिक और अभौतिक या आध्यात्मिक। मानव व्यक्तित्व का भौतिक भाग उसका भौतिक शरीर है तथा आध्यात्मिक अंश उसकी आत्मा है। पहला ससीम है तो दूसरा असीम। अतः मानव ससीम-असीम, शरीर-आत्म का सुन्दर समन्वय है। यह समन्वय मानव की विशेषता है, व्यक्तित्व की पूर्णता है। उसके व्यक्तित्व का एक अंश तो दृश्य है। उसका भौतिक शरीर सबको दिखालायी पड़ता है। इसे मानव व्यक्तित्व का बाह्य भाग भी कहते हैं, क्योंकि यह बाह्यनेन्द्रियों से दृष्टिगोचर होता है। यह स्थूल रूप है। परन्तु इसके व्यक्तित्व का एक अंश अदृश्य है। यह उसका आन्तरिक आत्मरूप है जो अन्तर्दृष्टि से गम्य है। इसीलिये इसे अदृश्य कहते हैं, क्योंकि यह सूक्ष्म है तथा वाह्यन्द्रियों से गम्य नहीं। परन्तु यह अगम्य नहीं, अन्तर्दृष्टि गम्य है। श्री राधाकृष्णन इन्हें मानव का ससीम पक्ष (finite aspect) और असीम पक्ष (infinite aspect) कहते हैं।

उपरोक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि मानव स्वरूप के दोनों रूप एक दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। श्री राधाकृष्णन् के अनुसार दोनों सत् हैं। इनमें से किसी एक का अभाव या असत् होना तो मानव स्वरूप की अपूर्णता है। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि दोनों का अपृथक् संयोग मानव स्वरूप की विशेषता है। वे कहते हैं- मानव का आत्म रूप (आध्यात्मिक स्वरूप) उसके शरीर रूप (भौतिक स्वरूप से पृथक् नहीं। अतः मानव को वाह्य इच्छाओं और आन्तरिक गुणों में विभक्त करना तो मानव के अविभक्त रूप का निषेध है..... अतः इसके स्वरूप की परात्मकता और भौतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है।^१

संक्षेप में भौतिक और आध्यात्मिक या शरीर और आत्मा में अपृथक् अविच्छेद्य सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्वरूप की विशेषता है। मानव न केवल शरीर रूप है और न केवल आत्मरूप। वह शरीर और आत्मा का समन्वित रूप है। इस समन्वित या संयुक्त रूप में वह पूर्ण है, अन्यथा पृथक् रूप में अपूर्ण।

ससीम रूपः सतीत रूप से मानव शरीर है, पंचभूतों से निर्मित भौतिक है। अतः यह भौतिक रूप है। शरीर में इन्द्रियाँ, मन, जीव आदि हैं। अतः यह जैविक रूप है। यह

1. The realm of spirit is not cut off from the realm of life. To divide man into outer desire and inner quality is to violate the integrity of human life... the two orders of reality... the transcendental and the empirical are closely related. S. Radhakrishnan : the Bhagavadgita. P. 13.

प्रकृति-प्रदत्त है, अतः प्राकृतिक और इसी से बाह्य जगत का अनुभव होता है, अतः इसे आनुभविक कहते हैं। मानव का दृश्य तो शरीर ही है। अतः शरीर की प्रधानता के कारण इसे मानव का शारीरिक रूप कहते हैं। इसे श्री राधाकृष्णन् मानव का ससीम पक्ष (finite aspect of man) कहते हैं, क्योंकि इसकी सीमाएँ हैं- जन्म मरण आदि। मानव के जन्म और मरण दोनों की सीमाएँ हैं, अतः वह ससीम है। शरीर से मानव देशकाल में स्थित है। शरीर वातावरण से नियंत्रित होता है। मानव वातावरण के अनुकूल अपने को व्यवस्थित करता है, व्यक्तित्व को विकसित करता है। परन्तु शरीर रूप या ससीम रूप मानव की एक विशेषता है।

श्री राधाकृष्णन् का कहना है कि मानव ससीम रूप से संतुष्ट नहीं। वह सीमाओं को पार करना चाहता है। वह अपने भौतिक, जैविक, मानसिक रूप के ऊपर उठना चाहता है। इसे परे की चेतना कहते हैं, क्योंकि यह ससीम स्वरूप को पार करना है। यह असीम की इच्छा है। असीम सान्त नहीं अनन्त है, अनित्य नहीं नित्य है। अतः मानव के ससीम शरीर में ही असीम आत्मा की चेतना है। वह समझता है कि उसे ससीम शरीर को पार कर असीम आत्मा के आनन्द का अनुभव करना है। इसके लिए वह सतत् प्रयास करता है। अतः उसका प्रयास ही सिद्ध करता है कि असीम आत्मा का आनन्द प्राप्त करना ही मानव भविष्य है।¹ मानव अपने वर्तमान ससीम (शरीर) से संतुष्ट नहीं, अतः भविष्य में असीम आनन्द के लिये प्रयास करता है। यही आध्यात्मिक पक्ष का सबसे सबल तर्क है। इसे असीम की इच्छा, भविष्य की कामना भी कहते हैं।

असीम रूप : यह मानव का आत्म रूप है। इसे श्री राधाकृष्णन् मानव का आध्यात्मिक (spiritual) रूप कहते हैं। आध्यात्मिक रूप में मानव सान्त नहीं, अनन्त है। इस अनन्त रूप में मानव सुख नहीं, आनन्द का अनुभव करता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सीमाओं को पार कर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। शरीर और इन्द्रियाँ तो इस आनन्द के साधक नहीं, बाधक हैं। इसीलिये मानव इनकी सीमा के परे जाकर आत्मानन्द का अनुभव करना चाहता है। इसे परमानन्द या दिव्य आनन्द भी कहते हैं। मानव की आत्मा और परमात्मा में अभेद है। अतः परमानन्द का अनुभव मानव और

1. Man's awareness of his finiteness and temporality means consciousness of eternity... his unquenchable longing for consummate happiness may be taken as indicative of his supernatural destiny.

P.A. Schillpp : Philosophy of Radhakrishnan P. 124.

परमात्मा दोनों को समान ही होता है। परन्तु परमानन्द का अनुभव मानव को मन या बुद्धि से नहीं हो सकता, क्योंकि ये सभी ससीम या सान्त अनुभव के साधन हैं। इनका कार्यक्षेत्र भी भौतिक है। अतः परमानन्द के लिये अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। अन्तर्दृष्टि में सभी प्रकार के भेद शान्त हो जाते हैं, तथा जीवात्मा और परमात्मा में तात्त्विक एकता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भेद-ज्ञान का साधन बुद्धि है तो अन्तर्दृष्टि अभेद-अनुभूति का माध्यम है।

श्री राधाकृष्णन् ज्ञान के विश्लेषण से ही ज्ञाता (आत्मा) की सत्ता सिद्ध करते हैं तथा पुनः आत्मा और परमात्मा का अभेद भी ज्ञान से ही सिद्ध करते हैं। ज्ञान हमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा होता है। इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन के ऊपर बुद्धि। परन्तु बुद्धि के ऊपर भी स्तर है- आत्म स्तर है। इस स्तर से हमें भौतिक नहीं आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन विषयों का ज्ञान हमें अन्तर्दृष्टि के द्वारा होता है। इस स्तर की विशेषता यह है कि इसमें द्वैत नहीं अद्वैत या अभेदमूलक ज्ञान होता है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के स्तर पर मानव ज्ञाता है, चेतन है और ज्ञेय विषय जड़ या अचेतन है। इस प्रकार यहाँ भेद या द्वैत स्वाभाविक हैं। परन्तु इन साधनों से ऊपर जाने पर द्वैत का क्षेत्र समाप्त हो जाता है तथा अद्वैत की सीमा प्रारम्भ होती है। जब हम आध्यात्म में प्रवेश करते हैं तो ज्ञान का विषय जड़ नहीं, चेतन हो जाता है। यहाँ चेतन (ज्ञाता-आत्मा) को चेतन (ज्ञान) होता है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही चेतन हैं। अतः यह चेतना या ज्ञान का अद्वैतपरक स्तर है। यह अन्तरतम अनुभूति या अनन्तर्दृष्टि का स्तर है। यही अभेद या अद्वैत का स्तर है। श्री राधाकृष्णन् इस अद्वैत को ज्ञानात्मक ही नहीं, वरन् तात्त्विक अद्वैत भी मानते हैं। इनका कहना है कि ज्ञानशास्त्रीय अद्वैत से हमें तत्त्व शास्त्रीय अद्वैत को भी झलक मिलती है।¹ हम परत तत्त्व को मुख्यतः दो नाम देते हैं- आत्मा और परमात्मा। श्री राधाकृष्णन् अद्वैत वेदान्ती हैं। अतः उनके अनुसार आत्मा और परमात्मा तो तत्त्वतः एक ही हैं। परन्तु इस अभेद या ऐक्य की अनुभूति हमें अन्तर्दृष्टि में होती है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि आध्यात्मिक स्तर को प्रमाणित करती है।

श्री राधाकृष्णन् अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं। अतः वे एक परमतत्त्व को स्वीकार करते हैं। यह परम तत्त्व चेतन है तथा सम्पूर्ण जगत् इसी चेतन की अभिव्यक्ति है।

1. There is, in the self of man, at the very centre of his being something deeper than the intellect which is akin to the Supreme,

S. Radhakrishnan : An idealist view of Life P. i 03.

अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर हैं, जैसे पाषाण जगत्, वनस्पति जगत्, पशु जगत् और मानव जगत्। परन्तु चेतना का यह अन्तिम स्तर है। परन्तु मानव अपने से ऊपर उठना चाहता है। यही उसकी परे की चेतना (transcendence) है। वह आत्मा चेतन स्तर को भी पार कर पूर्ण चेतन स्तर, परमात्मा-चेतन है। यही परमात्मा का स्तर है। यह चेतना की शुद्ध अवस्था है। यह परमात्मा-चेतन ही परम तत्त्व है। यह एक अद्वैत रूप, पूर्णतः आध्यात्मिक स्तर है। अतः तत्त्व शास्त्रीय दृष्टि से भी आध्यात्मिक स्तर सिद्ध होता है। यह असीम और अनन्त है। इस स्तर पर चेतना सभी उपाधियों से मुक्त, शुद्ध है।

श्री राधाकृष्णन् मानव के आध्यात्मिक स्वरूप के लिये कुछ विशेष अनुभूतियों का भी उल्लेख करते हैं। कुछ विशेष क्षणों में मानव अपनी सभी सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाता है। उदाहरणार्थ, सौन्दर्यानुभूति। मानव सौन्दर्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है। वह अपने भौतिक अस्तित्व को भूल जाता है। यह अनुभूति उसके भौतिक स्वरूप के परे आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय देती है। कला में निहित सौन्दर्य में हम कलाकार की आत्मा को देखते हैं। यह आध्यात्मिक अनुभव है, जिसमें मानव अपनी भौतिक सीमाओं को पार कर जाता है। वह कुछ समय के लिये कलाकृति के सौन्दर्य में निमग्न हो अपने में भी असीम अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार धार्मिक अनुभूति की गहराई में मानव को भौतिक अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। यह अतीन्द्रिय अनुभव है, जिसमें अनन्त का बोध होता है। इसी प्रकार मुमुक्षु का अनुभव भी अनन्त का आध्यात्मिक अनुभव है। यह अतीन्द्रिय अनुभव है। इसमें मानव अपने को पूर्णतः आध्यात्मिक समझता है। जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता, वासनाये सर्वथा समाप्त हो जाती तो मानव शरीर के रहते भी अशरीरी अनुभव करता है। यह अलौकिक अनुभव आत्मानन्द की प्राप्ति है। आत्मानन्द परमानन्द है। अतः अलौकिक आनन्द को प्राप्त कर मानव परमात्मा स्वरूप हो जाता है। इसीलिये मुमुक्षु को ईश्वर स्वरूप स्वीकार किया जाता है। वह परमात्मा के समान सभी बन्धनों से मुक्त है। यही मानव का दिव्य रूप या ईश्वरीय रूप है। परमात्मा का निवास मानव की अन्तरात्मा में है। अतः मानव अन्तरात्मा की अनुभूति में विश्वात्मा या परमात्मा की झाँकी पाता है।

कर्म और स्वतन्त्रता

इन दोनों का सम्बन्ध विवाद का विषय है। सामान्यतः हमें प्रतीत होता है कि इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं। यदि सम्बन्ध है भी तो विरोध का अर्थात् दोनों एक दूसरे के विरोधी या विपरीत हैं। विरोध सम्बन्ध की विशेषता यह है कि दो विरोधी धर्मों में एक समय

एक ही सत्य हो सकता है। यदि क और ख विरोधी हैं तो यदि इस समय क सत्य है तो ख असत्य और यदि क असत्य और यदि क असत्य है तो ख सत्य। श्री राधाकृष्णन् इनके विरोध का समन्वय करते हैं। उनके अनुसार कर्मवाद और स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरोधी नहीं। अतः वे इनकी एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

कर्मवाद का नियम बतलाता है कि भूत, वर्तमान और भविष्य सभी सापेक्ष हैं। इनमें निरपेक्ष कोई नहीं। वर्तमान भूत से जन्य है तथा भविष्य का जनक है। हमने भूतकाल में जैसा कर्म किया है उसके अनुसार वर्तमान जीवन प्राप्त है तथा वर्तमान में जैसा कर्मकर रहे हैं, उसके अनुसार भविष्य में जीवन प्राप्त होगा। अतः सभी सापेक्ष है तथा जो सापेक्ष है वह स्वतंत्र नहीं। स्वतंत्र तो निरपेक्ष होता है जो किसी पर निर्भर नहीं। अतः जिसकी सत्ता स्वयं पर निर्भर है, वही स्वतन्त्र है। अतः कर्मवाद में सापेक्षता है और सापेक्षता स्वतंत्रता नहीं, परतन्त्रता या पराधीनता है।

श्री राधाकृष्णन् के अनुसार स्वतन्त्रता तो आत्मा का सार है। यदि आत्मा स्वतन्त्र नहीं तो आत्मा ही नहीं। श्री राधाकृष्णन् के अनुसार सृजनशीलता ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता स्वशक्ति का स्वेच्छा से संचालन है। मानव अपने भविष्य का स्वयं निर्माता है। वह जो चाहे बन सकता है। कर्म तो एक शक्ति है, जिसका संचालन मानव की इच्छा पर निर्भर है। यह सत्य है कि भूतकाल के कर्मों के अनुसार हमारे वर्तमान जीवन की उपलब्धियाँ हैं। हम इसे स्वीकार करने के लिये विवश हैं। हमारी इच्छा का प्रश्न नहीं यदि वर्तमान जीवन में हमें दुःख मिल रहा है, चारों ओर निराशा और असंतोष दिखलायी पड़ रहा है तो हम लाचार हैं, हमें इसे भोगना ही पड़ेगा। हम इससे भाग नहीं सकते। ये सभी पूर्व अर्जित हैं, हमें इन्हें भोगना ही पड़ेगा। हम इससे भाग नहीं सकते। ये सभी पूर्व अर्जित हैं, हमें इन्हें भोगना ही पड़ेगा। परन्तु क्या हमारी अर्जन शक्ति समाप्त हो गयी? नहीं। हम भविष्य निधि का अर्जन कर सकते हैं। हम अपने कर्म को एक नया मोड़ दे सकते हैं, ऐसा कर्म कर सकते हैं, जिसमें भविष्य में सुख, शान्ति मिले। अतः कर्म शक्ति का संचालन हमारे अधीन है, हमें निराशा होने की आवश्यकता नहीं। हमारा वर्तमान कर्म भविष्य का जनक होगा। अतः हम अपने भविष्य का निर्माता हो सकते हैं। हम जैसा चाहे वैस ही हमारा भविष्य बन सकता है। अतः भविष्य को नयी दिशा प्रदान करने में हम स्वतन्त्र हैं, स्वाधीन हैं। भविष्य का सृजन करना तो हमारे हाथों में है। अतः भूत के कारण तो मानव असमर्थ, असहाय, निराश और परतन्त्र है, क्योंकि भूत का दास है। परन्तु भविष्य का निर्माण करने में वह समर्थ है, स्वतन्त्र है, क्योंकि भविष्य का स्वामी है।

अतः मानव असमर्थ और समर्थ, दास और स्वामी दोनों हैं। इसे श्री राधा कृष्णन् तास के खेल की उपमा से स्पष्ट करते हैं। तास के पत्ते वितरित होते हैं और खेल का प्रारम्भ हो जाता है। अतः पत्ते के वितरण के समय हम असमर्थ हैं, हमें जो पत्ते मिलेंगे उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु इन वितरित पत्तों से नया खेल रचाने में हम स्वतन्त्र हैं। हम इन पत्तों के सहारे नय खेल रचा सकते हैं। जीत और हार तो हमारे खेल की निपुणता या कुशलता पर निर्भर है। कुशल खिलाड़ी खराब पत्तों से भी अच्छा खेल रचा सकता है तथा अकुशल खिलाड़ी अच्छे पत्ते से भी हार खा सकता है। अतः खेलने की स्वतन्त्रता हमें है।¹ इस प्रकार श्री राधाकृष्णन कर्मवाद का निराकरण नहीं करते और न स्वतन्त्रता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार हमारे वर्तमान जीवन में दोनों का सुन्दर समन्वय है। हम असमर्थ और समर्थ दोनों हैं। यह नयी व्याख्या है।

कर्म और पुनर्जन्म

प्रायः भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार वर्तमान जीवनभूत कर्मों का फल है, उसी प्रकार भविष्य जीवन वर्तमान कर्म का फल होगा। इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य कर्मवाद की श्रृंखलायें हैं। कर्म का अनवरत प्रवाह चलता रहता है और जन्म-पुनर्जन्म होता रहता है। यहाँ एक प्रश्न है कि कर्म तो शारीरिक या भौतिक है। जब शरीर की मृत्यु हो जाती है तो कर्म भी समाप्त होना चाहिये? परन्तु ऐसा नहीं होता। यहाँ दो प्रमुख मान्यताएँ हैं। पहली आस्तिक तथा दूसरी नास्तिक। आस्तिक दार्शनिकों का कहना है कि कर्म के सभी फल सद्यः नहीं मिलते। कुछ कर्मों का फल हम भोग रहे हैं, परन्तु कुछ संस्कार बनकर आगामी जीवन में फल देते हैं। अतः आगामी जीवन या पुनर्जन्म सत्य है। नास्तिक दर्शनों जैसे बौद्ध लोगों की मान्यता यह है कि हम वासना या कामना के कारण कर्म करते हैं, फल भोगते हैं। परन्तु वर्तमान जीवन के अन्तिम क्षण तक हमारी वासनाएँ शान्त न हो पाती, इच्छायें तृप्त नहीं हो पाती। अतृप्त वासनाओं को तृप्त करने के लिये पुनः शरीर धारण किया जाता है। पुनः शरीर धारण ही पुनर्जन्म है। इस प्रकार आस्तिक-नास्तिक मान्यताओं में कुछ अन्तर अवश्य है। परन्तु पुनर्जन्म तो सभी स्वीकार करते हैं। दोनों का मौलिक भेद यह है कि आस्तिक के अनुसार आत्मा नित्य है, नास्तिक के अनुसार आत्मा अनित्य। पहले के अनुसार आत्मा का शरीरधारी होना ही पुनर्जन्म है तो

1. The Cards in the game of life are given to us, we do not select them, they are all traced to our past karms, but we can call as we please, lead what suit we will and as we play, we gain or lose- and that is freedom.

S. Radhakrishnan The Hindu View of Life, P. 75.

दूसरे के अनुसार संस्कारों का सशरीर होता है। श्री राधाकृष्णन् इन दोनों मान्यताओं को स्वीकार करते हुए लगते हैं। उनके अनुसार आत्मा नित्य है, जिसका पुनः शरीर से संयोग होता है, अतः पुनर्जन्म होता है। यह पूर्णतः आसितक मान्यता है। परन्तु श्री राधाकृष्णन यह भी कहते हैं कि जीवन की इच्छायें इस जीवन में ही शान्त नहीं हो पाती। कुछ इच्छायें अतृप्त रह जाती हैं, जिन्हें तृप्त करने के लिये शरीर धारण करना पड़ता है। पुनः वे कहते हैं कि हमारे जीवन में अनेक सम्भावनायें हैं। हम सभी को इसी जीवन में पूर्णतः वास्तविक नहीं बना सकते। जो सम्भावनाएँ शेष रह जाती हैं, उन्हें वास्तविक बनाने के लिये जन्म धारण करना पड़ता है। यही पुनर्जन्म है। अतः वे आस्तिक और मास्तिक मतों का सुन्दर समन्वय करते हैं।

दोनों मान्यताओं में स्मृति या स्मरण को लेकर विवाद है। आस्तिक मान्यता के अनुसार ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा है। ज्ञान दो प्रकार होता है- अनुभवस्वरूप और स्मृतिरूप। दोनों का अधिष्ठान आत्मा ही है, जो नित्य है। आत्मा की नित्यता के कारण ही हमें विगत घटनाओं की स्मृति बनी रहती है। विगत घटनाएँ संस्कार रूप से आत्मा में जग जाती हैं। नास्तिक दर्शन जैसे बौद्ध आदि के अनुसार संस्कार प्रवाह ही नित्य है। एक प्रवाह दूसरे को और दूसरा तीसरे को जन्म देता है। सभी प्रवाह श्रणिक तथा नित्यता का कारण है। एक संस्कार दूसरे संस्कार में परिवर्तित होता चला जाता है। अतः भूत की स्मृति वर्तमान में तथा वर्तमान की भविष्य में संक्रमित होती रहती है। श्री राधाकृष्णन् यहाँ भी दोनों का समन्वय करते हैं। उनके अनुसार सभी सम्भावनाएँ वर्तमान में ही समाप्त नहीं होती। कुछ सम्भावनाएँ आगामी जीवन में भी वास्तविक बनती हैं। अतः सम्भावनाएँ शेष रह जाती हैं। इस प्रकार अधिष्ठान को नित्य मानने हुए भी वे सम्भावनाओं का शेष स्वीकार करते हैं। इससे स्मृति की व्याख्या वे समुचित ढंग से करते हैं। हम जीवन की सभी क्षमताओं को समाप्त नहीं कर पाते। जो क्षमताएँ शेष रह जाती हैं, उनका स्मरण बना रहता है।

मानव का अन्तिम उद्देश्य- सर्वमुक्ति

मानव जन्म और मरण के अनवरत प्रवाह में है। वह जन्म लेता है मरने के लिये, मरता है जन्म लेने के लिये। जन्म और मरण का चक्र सदा चलता रहता है। इस अनवरत गति का पूर्ण अवरोध ही मोक्ष है। यही मानव का अन्तिम लक्ष्य या उद्देश्य है। इसे प्राप्त कर लेने पर मानव की जीवन-यात्रा सर्वथा समाप्त हो जाती। अतः यात्रा का अन्तिम विराम मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष त्राण छुटकारा प्राप्त करना है। जन्म और मरण तो बन्धन है और इस बन्धन का विनाश ही मोक्ष है। मोक्ष दो प्रकार का है- संदेह और विदेह। ज्ञानी को इस जीवन

में ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, परन्तु पुराने संस्कारों के क्षय होने तक उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इनके समाप्त होने पर शरीर-धारण सदा के लिये समाप्त हो जाता है। अतः पहला जीवन्मुक्ति और दूसरा विदेहमुक्ति कहा जाता है।

श्री राधाकृष्णन् मोक्ष की परम्परागत अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी कुछ नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार मोक्ष प्राप्त करना ही मानव का अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य है। मानव का सांसारिक जीवन तो मोक्ष यात्रा है। इस यात्रा का अन्तिम विराम मोक्ष ही है। यही मानव का चरम भाग्य है। इसे प्राप्त करने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः यह परम-प्राप्य था अशेष लाभ है। परन्तु श्री राधाकृष्णन् के अनुसार मानव का स्वरूप आध्यात्मिक है। वह शरीरधारी अवश्य है, परन्तु उसके शरीर और इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा है। आत्मा की प्रधानता के कारण उसका स्वरूप आध्यात्मिक है। अतः पूर्ण आध्यात्मिकता की प्राप्ति ही मानव का अन्तिम उद्देश्य है। आत्मा चेतन है, अतः चेतना की पूर्णता ही उसका लक्ष्य है। चेतन का पूर्ण होना; परम चेतन होना है। परम चेतना परमात्म-भाव है। यही आत्मा परमात्म, परम चेतना या परमात्म भाव है। यही आत्म परमात्मा का एकीकरण या तादात्म्य है। इस तादात्म्य की अनुभूति ही मानव का परम लाभ, परम प्राप्य है। संक्षेप में, यह मानव आत्मा में परमात्मा की अनुभूति है।¹ यह अनुभूति पूर्ण आनन्द की अनुभूति है। इस अनुभूति में मानव का सान्त स्वस्व समाप्त हो जाता है और वह असीम हो जाता है। उसके सभी दुःख सुख में परिवर्तित हो जाते हैं, बाधाएँ शान्त हो जाती हैं। इस सर्वभौम अनुभूति की एक झलक हमें सौन्दर्यानुभूति में मिलती है। किसी कलाकृति के सौन्दर्य की अनुभूति में हम निमग्न होकर अपना अस्तित्व कलाकृति में समाहित कर देते हैं। हमारा अस्तित्व पृथक नहीं रह जाता। यह शुद्ध आनन्द की अनुभूति है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय की एकरूपता है। यह एकरूपता, अभिन्नता, सार्वभौम और सर्वव्यापक है। इसी प्रकार जीव और शिव की, आत्मा और परमात्म में तदात्म्य की अनुभूति पूर्णतः आनन्द की अनुभूति है जो सार्वभौम तथा शाश्वत है। अतः परमात्मा के साथ अभेदानुभूति ही मोक्ष है। मानव का अन्तिम उद्देश्य यही है।

श्री राधाकृष्णन् मोक्ष के दो प्रकार भी स्वीकार करते हैं-- जीवमुक्ति और सर्वमुक्ति। प्रथम जीवित अवस्था में ही परमात्मा के साथ अभेदानुभूति का आनन्द है। यह आनन्द पूर्णतः आध्यात्मिक है। मानव का जीवन संस्कार वश अथवा पूर्वकृत कर्मों के अनुसार कुछ समय के लिये चलता रहता है। मानव की सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं

1. The destiny of human soul is to realise its oneness with the Supreme.

S. Radhakrishnan, Eastern Religion Western Thought, P. 96.

तथा वह परमात्म भाव के आनन्द में लीन रहता है। परन्तु वह शरीर के सर्वथा समाप्त होने की प्रतीक्षा में निष्काम होकर बैठ नहीं जाता, वह अन्य व्यक्तियों को परमात्मा की अभेदानुभूति के लिये प्रयास करता है। अतः वह सर्वमुक्ति के लिये प्रयत्न करता है। इसके लिये यदि आवश्यकता हो तो वह शरीर धारण भी करता है। परन्तु उसका शरीरधारी होना परहित के लिये होता है, स्वहित के लिये नहीं। वह आना-जाना तब तक प्रारम्भ रखता है जब तक सभी मुक्त न हो जाय। अतः आध्यात्मिक मानव सर्वमुक्ति को स्वमुक्ति से सर्वोच्च स्वीकार करता है। यही मानव का सर्वोच्च शिखर को प्राप्त करना है, मानव का अन्तिम उद्देश्य है।

एक आवश्यक प्रश्न यह है कि मोक्ष की अवस्था में मानव का व्यक्तित्व विद्यमान रहता है या नहीं। यदि व्यक्तित्व विद्यमान रहता है तो बन्धन-विनाश या मोक्ष कैसा? यदि व्यक्तित्व नहीं विद्यमान रहता हो सर्वमुक्ति के लिये प्रयास कैसा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री राधाकृष्णन् कहते हैं कि मोक्ष मात्र अभावत्मक बन्धन-विनाश ही नहीं वरन् भावात्मक तादात्म्य का अनुभव है। मोक्ष स्वरूप ज्ञान है। जब मानव को अपने आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होता हो जाता है तो वह मात्र आध्यात्मिक ही रह जाता है। उसका भौतिक स्वरूप (शरीर) समाप्त हो जाता है। उसकी अपूर्णता तथा ससीमता समाप्त हो जाती है। परन्तु इसके समाप्त होते ही वह पूर्णता का अनुभव करता है। पूर्णतः स्वतन्त्र होना ही उसका स्वभाव है, यही उसका आध्यात्मिक स्वरूप, आत्मा और परमात्म का तादात्म्य भाव है। इसे ही परमानन्द की अनुभूति भी कहते हैं। अतः मोक्ष तो मानव का दैवी रूप है। मानव देह नहीं देव है। मानव का आत्मरूप तो परमात्मा रूप है। आत्मा और परमात्मा में अभेद है। इस अभेदानुभूति को ही वे मोक्ष मानते हैं।

मोक्ष के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि राधाकृष्णन आस्तिकों में अग्रगण्य वेदान्त के मोक्ष को स्वीकार करते हैं। वेदान्त के अनुसार मोक्ष आत्मा के यथार्थ स्वरूप का नाम है। आत्मा का यथार्थस्वरूप परमात्मा से अभिन्न या अभेद है। अतः अभेदानुभूति मोक्षावस्था है। परन्तु श्री राधाकृष्णन् महायान बौद्ध मत के सर्व समुद्धरण तथा सर्वमुक्ति सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। महायान के अनुसार अर्हत नहीं, बोधिसत्व ही सर्वोच्च आदर्श है। बोधिसत्व सर्वमुक्ति के लिये स्वमुक्ति का तिरस्कार करता है, समाज के सभी लोगों को निर्वाण तट पर पहुचाने का संकल्प करता है। सम्भवतः इसी आधार पर भगवान् निर्वाण प्राप्त कर भी चालीस वर्षों तक सद्धर्म का प्रचार करते रहे। महायान के अनुसार सर्वमुक्ति बोधिसत्व का सर्वोच्च आदर्श है। मानव के अन्तिम लक्ष्य में भी श्रीराधाकृष्णन् आस्तिक और नास्तिक सभी मान्यताओं का समन्वय करते हैं।

श्री राधाकृष्णन का सर्वमुक्ति सिद्धान्त- इसे आधुनिक भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण मत स्वीकार किया जाता है। महर्षि अरविन्द भी सर्वमुक्ति का ही प्रतिपादक करते हैं। ये दार्शनिक सर्वमुक्ति को स्वमुक्ति से अधिक महत्वपूर्ण बतलाते हैं। परन्तु सर्वमुक्ति सर्वोच्च मूल्य है, इसे मानव का अन्तिम उद्देश्य स्वीकार करने में एक कठिनाई है। यदि सभी लोग मुक्त हो जायें तो सांसारिक स्वरूप ही समाप्त हो जायेगा। श्री राधाकृष्णन् का कहना है कि सर्वमुक्ति से वर्तमान संसार का स्वरूप परिवर्तित हो सकता है। हो सकता है कि सभी लोगों के मुक्त होने पर संसार बदल जाय। संसार की सृष्टि करना तो परम सत् की एक अभिव्यक्ति है। परम सत् में अनन्त सम्भावनाएँ हैं। किसी एक सम्भावना की अभिव्यक्ति सृष्टि है। सृष्टि के समाप्त होने पर दूसरी सम्भावना की अभिव्यक्ति भी हो सकती है, क्योंकि दूसरी प्रक्रिया का प्रारम्भ हो सकता है। अतः सर्वमुक्ति को मानव का अन्त समझ लेना तो भूल है। सृष्टि तो एक लीला या खेल है। इस लीला का स्वरूप परिवर्तित हो सकता है।

धार्मिक अनुभूति (Religious Experience)

श्री राधाकृष्णन धार्मिक अनुभूति को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार यह दिव्य अनुभूति है, जिसे मोक्ष या मुक्ति का यथार्थ साधन कहा जाता है। मानव का लक्ष्य आध्यात्मिक होना है। आध्यात्मिक मानव का देवरूप के लिए परमभाव को प्राप्त करना ही मोक्ष मार्ग है। इसके लिए आवश्यक है कि मानव अपने में अन्तर्निहित परमात्मा के भाव को जगायें। परमात्मा के भाव को जागृत करना ही धार्मिक अनुभूति है। यह दिव्य अनुभूति है, जिसके द्वारा मानव अपने भीतर ईश्वर भाव को पहचान पाता है। ईश्वर आन्तरिक विषय है, बाह्य नहीं। अतः इस विषय की अनुभूति भी आन्तरिक है। इसे ही धार्मिक अनुभूति कहते हैं या धार्मिक बोध कहते हैं। यही धर्म का सार रूप है। सभी में इसकी व्यवस्था है। सभी धर्मों में ईश्वर भाव को जागृत करने की शिक्षा है। अतः सभी धर्मों में धार्मिक अनुभूति की प्रधानता है।

श्री राधाकृष्णन् धार्मिक अनुभूति को धर्म का सार स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह एक असाधारण अथवा विशेष प्रकार का अनुभव है। इसकी विशेषता का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

(क). इसमें विषय बाह्य नहीं, आन्तरिक है। आन्तरिक होने के कारण इसकी अनुभूति अन्तः प्रज्ञा में होती है। परमात्म का भाव बाह्य विषय नहीं, अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः इसका अनुभव अन्तरात्मा या अन्तः प्रज्ञा से ही सम्भव है। इस प्रकार यह ज्ञान तो है, इन्द्रिय या बुद्धिगम्य नहीं। इसीलिए इसे अतीन्द्रिय अनुभव भी कहा जाता है।

(ख). यह समग्रता या सम्पूर्णता का अनुभव है। साधारण अनुभव में हमें ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का अनुभव होता है। ज्ञाता चेतन है और ज्ञेय अचेतन। परन्तु इस विशेष अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एकरूप, चैतन्यरूप हैं। मानव की चेतना जब परम चेतना का अनुभव करती है तो यह चेतना की समग्रता है। इसीलिए इसे अभेद या तादात्म्य का अनुभव भी करते हैं। चेतन का जब परमचेतन का अनुभव होता है तो उसका अस्तित्व भी परम चेतन में अन्तर्भूत या अपृथक प्रतीत होता है।

(ग). इसके लिये न तो शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा है और न किसी उदाहरण की। अन्तरात्मा का द्वार सबके लिये सुलभ है। प्रत्येक मानव में यह एक शक्ति है। इस शक्ति को पहचानने या जागृत करने की आवश्यकता है। किसी विशेष क्षण में यह शक्ति जग जाती है, परमात्मा का भाव जग जाता है। इसके जगते ही परमात्म का स्वरूप स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगता है। इसे किसी की अपेक्षा नहीं। अतः इसके लिये विद्वान् और मूर्ख का भेद नहीं। यह सबके लिये या सर्वसुलभ बोध है।

(घ). यह अनुभूति आत्मगत है। मानव अपनी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से धार्मिक अनुभूति को प्राप्त करता है। अतः इसके लिये बाह्य उपकरण या विषय की आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरी ओर, बाह्य विषय तो इसके लिये साधक नहीं, बाधक है। यह सत् या तत्त्व की अनुभूति है। सत् का यथार्थ अनुभव आन्तरिक अन्तर्दृष्टि से ही हो सकता है।

(ङ). धार्मिक अनुभूति को स्वयं प्रकाश या स्वतः प्रमाण माना जाता है। तात्पर्य यह है कि इसकी प्रामाणिकता की परोक्ष किसी अन्य अनुभूति से सम्भव नहीं। यह अनुभूति सहसा होती है तथा इसका कोई नियम या क्रम नहीं। इस अनुभूति की पुनरावृत्ति भी नहीं हो सकती। अतः इसे परीक्षा का विषय नहीं बनाया जा सकता। परीक्षा के विषय तो बौद्धिक होते हैं।^१ जो बुद्धि की सीमा के परे, अन्तर्दृष्टि का विषय है, उसकी परीक्षा सम्भव नहीं। परन्तु इसकी प्रामाणिकता सन्देह के परे है। इसे ज्यों का त्यों पूर्णतः प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है। स्वयं प्रकाश और स्वतः प्रमाण की परीक्षा का प्रश्न ही नहीं, अन्यथा यह स्वयं प्रकाश नहीं। श्री राधाकृष्णन् इसे शुद्ध अनुभूति, पूर्णतः सार्थक तथा पूर्णतः प्रामाणिक कहते हैं।

(च). धार्मिक अनुभूति अभिव्यक्ति के परे है। अभिव्यक्ति तो शब्दों में य वचन विन्यास से होती है। जो शब्दातीत है, वह वर्णनातीत है। शब्द की सीमा है, वर्णन भाषीय

1. It is pure contemplation. entire significance, complete validity. It comes with a constraint that brooks no denial,

प्रतीकों द्वारा ही सम्भव है। असीम तो सीमा के परे हैं तथा अनन्त का कोई भाषीय प्रतीक सम्भव नहीं। इसीलिये धार्मिक अनुभूति को अनिर्वचनीय या अवर्णनीय माना जाता है। श्री राधाकृष्णन का कहना है कि अन्तर्दृष्टि तो नितान्त मौन है। यह परम आध्यात्मिक अनुभूति है जो वाणी और मन की परिधि के परे हैं, अवाङ्गमनसगोचर, अवर्णनीय है। इस अपरिमेय रहस्य के उद्घाटन के लिये शब्द मिथ्या है, प्रवंचक है।¹

(छ). धार्मिक अनुभूति के अपार शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। मानव की सभी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं, जिस प्रकार कोई व्यक्ति सागर को पार कर जाय अथवा दुर्गम पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाय तो उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस अनुभव में अमृत रस का पान कर व्यक्ति महान आनन्द का अनुभव करता है। जिस वस्तु या विषय को प्राप्त करने के लिये वह जीवन पर्यन्त प्रयास करता है, उसे प्राप्त कर वह आनन्द के सागर में निमग्न हो जाता है। वह इस आनन्द से पृथक नहीं होना चाहता।

(ज). धार्मिक अनुभूत समग्रता या सम्पूर्णता की अनुभूति है। इसमें ज्ञान, भावना और संकल्प तीनों का सुन्दर समन्वय होता है। यह अनुभूति है, अतः यह ज्ञानात्मक है। इसका सम्बन्ध हृदय के गहनतम भाव से है, अतः यह भावात्मक है। इसका सम्बन्ध क्रिया है, अतः यह क्रियात्मक है। मानव अन्तर्दृष्टि से परमात्मा का साक्षात्कार करता है, हृदय की गहराई में परमात्मा का अनुभव करता है तथा वह परमात्मा में जीवन यापन करता है। इस प्रकार मानव के ज्ञान, भावना और संकल्प सभी का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है।

अन्त में एक आवश्यक प्रश्न यह है कि मानव इस विलक्षण को कैसे समझता है? शब्द या वर्णन के माध्यम से इसे नहीं समझा जा सकता। अतः इसमें मानव का विश्वास कैसे होगा? श्री राधाकृष्णन् का कहना है कि सौन्दर्यानुभूति में हमें इसकी एक झलक मिलती है। किसी कलाकृति के सौन्दर्य में हम सब कुछ भूल जाते हैं, हमारा अस्तित्व कला के सौन्दर्य से पृथक नहीं रह जाता। इस प्रकार यह सौन्दर्य में आत्म विभोर होने की अवस्था है, जिसके लिये लौकिक शब्द या भाषा पर्याप्त नहीं। इस अवर्णनीय आनन्द में हमें परमानन्द की झलक मिलती है। अतः धार्मिक अनुभूति रहस्यात्मक है जो वाणी और बुद्धि के परे हैं।

1. Deep intuition is utterly silent. the glory of the spiritual life is inexplicable and beyond the reach of speech and mind. It is a great unfathomable mystery and words are teacherous, An Idealist View of Life P. P. 92, 191.

धर्म का सार

धर्म का सार सुबोध नहीं, दुर्बोध है। इसे सही रूप में न समझने के कारण ही मानव विवाद और उन्माद में पड़ जाता है। प्रायः धर्म में दो रूप स्वीकार किये जाते हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य रूप इन्द्रियगम्य है, परन्तु आन्तरिक रूप अदृश्य है। इस अतीन्द्रिय और अदृश्य रूप को नहीं समझने के कारण ही धर्म विवाद का विषय बन जाता है तथा धार्मिक-व्यक्ति उन्माद में पड़ जाता है। धर्म का बाह्य रूप रीति-रिवाज, पूजा-प्रार्थना, रहन-सहन में दिखलायी पड़ता है। एक सम्प्रदाय की मान्यताएँ और परम्पराएँ दूसरे से भिन्न हैं। दोनों में विरोध स्वाभाविक है। यही विरोध उन्माद का रूप लेकर संघर्ष का कारण बन जाता है। एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को अपना सहज शत्रु मान बैठते हैं, अतः धर्म का बाह्य रूप राग-द्वेष और शत्रुता का कारण है, परन्तु कोई धर्म राग-द्वेष की शिक्षा नहीं देता, शत्रुता को स्वीकार नहीं करता। सभी धर्म राग-द्वेष से मुक्त हो विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा देते हैं। स्पष्ट है कि हम धर्म के आन्तरिक स्वरूप को नहीं समझ पाते और उसकी सही शिक्षा को भी नहीं ग्रहण कर पाते।

श्री राधाकृष्णन् का कहना है कि धर्म का आन्तरिक रूप ही धर्म का सार है जो विवाद से मुक्त और उन्माद से परे है। यह आन्तरिक रूप धार्मिक अनुभूति (Religious Experience) है। यह निर्विवाद तथा निस्सन्देह धर्म का सार या स्वरूप है। इस सार को धर्म का सार्वभौम रूप भी कहते हैं, क्योंकि सभी धर्म इसे स्वीकार करते हैं। धर्म की सभी बाह्य मान्यताओं की आधारशिला धार्मिक अनुभूति है। यह अनुभूति सबमें समान है, अतः यह सार्वभौम है, सर्व स्वीकृत है, प्रत्येक धर्म तो धार्मिक अनुभूति के मार्ग या साधन है।^१ ऐसा धर्म नहीं जो इस अनुभूति को स्वीकार करे। यही धर्म का स्वरूप या सार है। जिस धर्म में यह सार नहीं वह निस्सार है, प्राण रहित शरीर है। यह धर्म का आन्तरिक रूप है। धर्म इस आन्तरिक धार्मिक अनुभूति के लिये मार्ग है। यह सत् की अन्तर्दृष्टि है, न कि सम्प्रदाय या अनुशासन।^२ इस अन्तर्दृष्टि के अभाव में हर धर्म के सम्प्रदाय या अनुशासन को ही धर्म का सार समझ लेते हैं। यह धर्म के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति है।

एक आवश्यक प्रश्न है कि यदि धर्म का सार या आन्तरिक स्वरूप ही सर्वस्व या सब कुछ है तो धर्म का बाह्य या सम्प्रदाय रूप निरर्थक या कुछ नहीं है। अतः सम्प्रदाय रूप

1. Religion is the affirmation of the ultimacy of religious experience.

2. Religion is not a creed or a code, but an insight into Reality.

Philosophy of Radhakrishnan : P. A. Schilpp P. 50.

तो अनावश्यक है। श्री राधाकृष्णन का कहना है कि इसकी आवश्यकता अवश्य है। हम सभी किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय में ही जन्म लेते हैं, किसी परम्परा में ही पलते हैं अतः ये अनावश्यक नहीं। परन्तु हमें समझना होगा कि पूजापाठ, सम्प्रदाय की मान्यताएँ धार्मिक अनुभूति के साधन या मार्ग हैं, परन्तु साध्य को स्वीकार किये बिना इन साधनों का महत्व नहीं। मार्ग से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सभी धार्मिक मान्यताएँ धार्मिक अनुभूति के प्रतीक हैं, ये प्रतीक सत् की प्राप्ति के संकेत हैं, इनका महत्त्व सत् को संकेतित करने में हैं। अतः सम्प्रदाय सत् की अभिव्यक्ति के साधन है, धार्मिक अनुभूति के मार्ग को लक्ष्य मान लेना तो साधन को साध्य समझने की भूल है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभूति ही धर्म का सार है। यह अनुभूति सम्पूर्ण या समग्र है। इसमें अनुभूति के सभी आयाम सम्मिलित हैं। यह यह ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक तीनों है। इस अनुभूति का लक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार है, जिसका सर्वोच्च साधन अन्तर्दृष्टि सर्वोच्च ज्ञान है। परमात्मा का भाव ही सर्वोच्च भावना है। जिन क्रियाओं से परमात्म की अभिव्यक्ति होती है, वे ही सर्वोच्च क्रियाएँ हैं। परमात्मा सर्वोच्च भाव और सर्वोच्च क्रिया है। अतः धार्मिक अनुभूति समग्र रूप है। इसकी समग्रता में आन्तरिक और बाह्य सभी रूप समन्वित हैं।

इस समग्रता के तीन आवश्यक अंक हैं- ज्ञान, भक्ति और कर्म। ये तीनों परमात्मा की प्राप्ति के समान साधन हैं। इनका साध्य परमात्मा ही है जो धार्मिक अनुभूति का केन्द्र बिन्दु है। परमात्मा की प्राप्ति हमें ज्ञान मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति मार्ग आदि सभी मार्गों से हो सकती है। अतः सभी मार्ग समानतः महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीन मार्गों को श्री राधाकृष्णन धार्मिक अनुभूति के साधन के रूप में समानतः स्वीकार करते हैं। इनकी व्याख्या में भगवन् गीता के ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्ति योग के समान ही करते हैं।



३ महर्षि अरविन्द

श्री अरविन्द बीसवीं शताब्दी के मौलिक दार्शनिक माने जाते हैं। भारत के समकालीन दार्शनिकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनका जन्म पश्चिम बंगाल के कोनानगर में १५ अगस्त १८७२ में हुआ। जन्म के समय इनका नाम श्री अरविन्द घोष था। इनकी प्रतिभा बाल्यकाल से ही प्रखर थी। सर्वप्रथम इनकी शिक्षा दार्जिलिंग के लारेटो कान्वेन्ट में प्रारम्भ हुयी, आठ वर्ष की अल्प-आयु में ही ये इंग्लैंड गये तथा ड्रीवेट नामक एक कुशल शिक्षक के संरक्षण में इनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। १८८५ में लन्दन में सेन्ट पाल विद्यालय में इनका नामांकन हुआ। विद्यालय में इन्होंने अंग्रेजी के अतिरिक्त ग्रीक लैटिन आदि भाषाओं को सीखा और इन भाषाओं के कई कविताओं की रचना की। विद्यालय की शिक्षा समाप्त कर विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रारम्भ की तथा अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। अन्त में, इन्होंने आ० सी० एस० की प्रतियोगिता परीक्षा दी, परन्तु अश्वारोहन ज्ञान के अभाव में असफल रहे। १९१३ में श्री अरविन्द स्वदेश लौटे और बड़ौदा राज्य की सेवा में नियुक्त हुए। दस वर्ष तक राज्य की सेवा की परन्तु अचानक इनका आकर्षण राजनीति की ओर हुआ और ये राजनीतिक कार्यों में जुट गये। अलीपुर बम-बिस्फोट काण्ड में ये १९०८ में बन्दी बनाये गये। बन्दीगृह (कारागार) में इन्हें कुछ विलक्षण अनुभूतियाँ हुयी। दिव्य सन्देश के प्रति वोतराग हो गये और योगी बन गये। आश्रम में एक विलक्षण शिष्य मीरा रिचर्ड इनके सम्पर्क में आयी और सम्पूर्ण आश्रम का कार्यभार देखने लगी। बाद में इन्हें आश्रम की माँ कहा जाने लगा। इस आश्रम में इन्होंने अनेकानेक महत्त्व पूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनके आधार पर सम्प्रति अरविन्द दर्शन का अध्ययन, अध्यापन होता है। इनकी रचनायें मुख्यतः आध्यात्मिक हे, इनका प्रमुख विषय योग है। इसीलिए इन्हें महान् योगी माना जाता है। इसीलिए इन्हें महर्षि स्वीकार किया गया है। अन्त में, १९५० में महर्षि अरविन्द ने लौकिक यात्रा समाप्त की।

दार्शनिक दृष्टि में महर्षि अरविन्द का दर्शन वेदान्त एक नयी व्याख्या है जिसे नव्य वेदान्तवाद कहा जा सकता है। इसका शिलान्यास तो स्वामी विवेकानन्द ने किया परन्तु इसके शिल्पकार महर्षि अरविन्द थे। रेमण्ड थैन्क पाहपर के अनुसार-महात्मा गाँधी आधुनिक भारत के महान् संत, टैगोर एक महान् कवि, पर श्री अरविन्द सबसे बड़े विचारक है।

परमतत्त्व

महर्षि अरविन्द जा परम तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्णतया सर्वांगीण अद्वैतवाद (Integral Advaitism) कहलाता है। यह अद्वैत है, क्योंकि एक है और चित् , अचित् के द्वैत का निषेध करता है। दूसरे शब्दों में, चित् और अचित् आदि दोनों ही इस एक अद्वैत, परमतत्त्व के आवश्यक अंग हैं, अतः सर्वांगीण है। इसे ही ऐक्य अद्वैतवाद भी कहते हैं, क्योंकि यह चेतन, और जड़ के द्वैत को नहीं स्वीकार करता, वरन् जड़-चेतन की अन्तर्निहित एकता पर बल प्रदान करता है। इसे ही पूर्णांग अद्वैतवाद भी कहते हैं, क्योंकि चेतन और अचेतन पृथक् रूप से अपूर्ण है, परन्तु एक साथ मिलकर दोनों पूर्ण हो जाते हैं। इनकी अपूर्णता ऐक्य में समाहित हो जाती है। एक आवश्यक प्रश्न यह है कि चेतना और अचेतन तो आपस में विरोधी है, क्या परम तत्त्व इन विरोधों का समन्वय है? श्री अरविन्द के अनुसार परम तत्त्व दोनों का समन्वयवादी रूप प्रतीत होता है। इसीलिये इसे समन्वयवादी मानते हैं। यह समन्वय इसके विरोधी स्वभावों का समन्वय है। यदि इनके विरोधों को समाप्त कर दिया जाय तो दोनों में एकता स्थापित हो जायेगी, दोनों एक अंग बना जायेंगे। दोनों पृथक् रूप से एकांगी हैं, मिलकर सर्वांगीण बन जायेंगे। यही सर्वांगीण अद्वैतवाद है।

श्री अरविन्द का सर्वांगीण या पूर्ण अद्वैतवाद की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह जड़ और चेतन की अपूर्ण तथा एकांगी सिद्धान्त बतलाता है, अतः दोनों का परम तत्त्व के रूप में निषेध करता है। श्री अरविन्द के ये दो निषेध सुप्रसिद्ध सिद्धान्त हैं जो उनके तत्त्व दर्शन की आधारशिला हैं।

जड़वाद का निषेध- जड़वादी दार्शनिक जड़ को ही परम तत्त्व मानते हैं तथा यह भी स्वीकार करते हैं कि चेतन की उत्पत्ति भी जड़ से होती है। अतः भूत ही मौलिक तत्त्व है परन्तु इस मान्यता में कई दोष हैं-

(क). यदि परम जड़ है तो जीव, आदि की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जड़ तो निर्जीव और अचेतन है।

(ख). संसार के नियम, व्यवस्था, सामंजस्य है। इनके पीछे किसी चेतन सत्ता का हाथ अवश्य है। अचेतन जड़ नियम और व्यवस्था का कारण नहीं हो सकता।

(ग). भौतिकवाद ज्ञान मीमांसा के आधार पर तत्त्वमीमांसा की सिद्धि करता है। भौतिकवाद इन्द्रिय ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। इन्द्रियों से हमें केवल भौतिक वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त होता है। अतः भौतिक वस्तुओं की सत्ता है। अतिभौतिक या आध्यात्मिक अमान्य है। यह तो सत्य का एकांगी प्रतिपादन है।

(घ). भौतिकवाद का सबसे बड़ा दावा है कि उसके निष्कर्ष वैज्ञानिक होते हैं। अतः वैज्ञानिक होने के कारण मान्य है। परन्तु वैज्ञानिक निष्कर्ष अन्तिम नहीं। विज्ञान प्रगतिशील है, नित्य नये-नये अनुसंधान हो रहे हैं। नये-नये तथ्य सामने आते हैं, नये-नये सत्य का प्रतिपादन किया जाता है। इनसे ज्ञान-बर्धन अवश्य होता है, परन्तु विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित सत्य केवल सामयिक है, अन्तिम नहीं।

अध्यात्मवाद का निषेध - अध्यात्मवाद परम तत्त्व को चित्, चेतन या आत्मरूप मानता है। परम तत्त्व के चेतन होने से सम्पूर्ण संसार का स्वरूप ही चेतन है। वस्तु तो केवल विज्ञानरूप ही है, ज्ञाता पर ज्ञेय निर्भर है। अतः ज्ञेय ज्ञानरूप ही है। इसमें भी कई दोष हैं-

(क). इसके अनुसार परम तत्त्व चेतन है। इसी कारण सम्पूर्ण संसार का स्वरूप ही चेतन है। यदि यह सत्य है तो अचेतन से इसका विरोध क्यों? यह अचेतन भौतिक तत्त्व को अपने से भिन्न क्यों स्वीकार करता है? भौतिक को भी आध्यात्मिक क्यों नहीं मानता?

(ख). अध्यात्मवाद अपने समर्थन में ज्ञानमीमांसीय तर्क प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार सत् का यथार्थ स्वरूप अतीन्द्रिय है, अर्थात् ज्ञान के परे हैं। अतः अतीन्द्रिय का ज्ञान भौतिक इन्द्रियों से नहीं हो सकता। सत् भौतिक वस्तु नहीं, आध्यात्मिक या मानसिक विचार है। विचार का ग्रहण तो मन या चेतना से ही हो सकता है। परमतत्त्व चेतन है, अतः चेतना का विषय है। यदि ऐसी बात है तो अचेतन का ज्ञान नहीं होना चाहिए, परन्तु हमें होता है।

(ग). अध्यात्मवादी अध्यात्म तत्त्व (चेतना) को ही सत् मानते हैं तथा बाह्य वस्तु को असत् मानते हैं। इन्हें भ्रम की संज्ञा देते हैं। सम्पूर्ण बाह्य सत्ता केवल भ्रमात्मक प्रतीति है। परन्तु आत्मगत और वस्तुगत तो अन्योन्याश्रित है। यदि बाह्य सत्ता असत् है तो आत्मगत भी असत् ही होगा।

श्री अरविन्द भौतिकवाद और आध्यात्मवाद दोनों को एकांगी तथा अपूर्ण मानते हैं, पूर्ण दोनों का समन्वय है। उनके अनुसार धरती पर ही दिव्य जीवन तथा अमर आत्मा का निवास मरणधर्मा मनुष्य के शरीर में स्वीकार करना चाहिए। मर्त्य शरीर के बिना अमर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनों सम्बद्ध हैं।^१

1. The affirmation of a Divine Life on the earth and an immortal sense in moral existence can have no base unless we recognise the eternal spirit as the inhabitant of their bodily mansion. The Divine Life, P. 8.

परम तत्त्व-सच्चिदानन्द

परमतत्त्व भौतिक और आध्यात्मिक दोनों होना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि परम तत्त्व दो है। यह एक अद्वैतरूप है, परन्तु जड़ और चेतन दोनों का समन्वय है। यही महर्षि अरविन्द का पूर्ण परम तत्त्व अथवा सर्वांगीण परम तत्त्व है। संक्षेप में, श्री अरविन्द का परम तत्त्व सत् है जो एक है, परन्तु जड़ और चेतन इसके स्वरूप हैं। प्रश्न यह है कि सत् में जड़ और चेतन का समन्वय कैसे होता है? श्री अरविन्द के अनुसार परम तत्त्व सर्वविध पूर्ण है, एक है और आध्यात्मिक है। इसे आध्यात्मिक अद्वैतवाद कहते हैं। इसे हम अद्वैतवेदान्त की भाषा में ब्रह्मवाद कह सकते हैं, क्योंकि ब्रह्म एक अद्वैत और आध्यात्मिक है। श्री अरविन्द भी इसे ब्रह्म कहते हैं, परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म शुद्ध चित्त रूप है, अचित् से इसका सम्बन्ध नहीं। श्री अरविन्द के अनुसार इसका अचित् से भी सम्बन्ध है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि हम अचित् का अर्थ निश्चेतन या भूत समझते हैं, परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार जड़ में भी चेतना है, अतः चड़ अचेतन नहीं। इसमें चेतना की मात्रा न्यून है, परन्तु यह निश्चेतन नहीं। श्री अरविन्द सत्ता को चेतन स्वीकार करते हैं तथा चेतना में न्यूनाधिक मात्रा भेद से चेतना के विभिन्न स्तर मानते हैं, जैसे भौतिक, जैविक, मानसिक आदि। चेतना का विकास इसके उपर स्तरों में भी है। यदि जड़ भी चेतना शून्य नहीं हो तो सम्पूर्ण सृष्टि ही चिदात्मक है। सम्पूर्ण सृष्टि विश्व चेतना का विकास है। विकास के स्तर भिन्न-भिन्न है। परन्तु विश्वव्यापी चेतना एक है, अद्वैत है। अनेक स्तरों पर विद्यमान एक चेतना से चेतना का अद्वैत रूप स्पष्ट हो जाता है और अचेतन के अभाव से सभी विश्वव्यापी चेतना के अंग बन जाते हैं। भौतिक और आध्यात्मिक का अनुपम समन्वय है। अतः दोनों आध्यात्मिक के अंग बन जाते हैं।

आध्यात्मिक अद्वैत रूप परम तत्त्व को वे सच्चिदानन्द कहते हैं। सच्चिदानन्द त्रयात्मक है अर्थात् सत् है, चित् है और आनन्द है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परम तत्त्व तीन है। यह अद्वैत रूप है, इसमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं परन्तु सत्, चित्, आनन्द इसके विभिन्न भेद हैं। परन्तु यह विभेदों में अभेद है, त्रिरूपात्मक होते हुए भी अद्वैत है। यही श्री अरविन्द का आध्यात्मिक अद्वैतवाद है। यह अद्वैत पूर्ण है, क्योंकि दो अपूर्णवादों (भौतिकवाद और अध्यात्मवाद) को एकांगी और अपूर्ण बतलाता है। यही इसका सर्वांगीण स्वरूप है, क्योंकि इसके सर्वांग में चित्, अचित् दोनों का समावेश है।

उपनिषद् और अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी परम तत्त्व सच्चिदानन्द है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है। परन्तु श्री अरविन्द का ब्रह्म सच्चिदानन्द अद्वैत वेदान्त से भिन्न है। श्री अरविन्द के सच्चिदानन्द की कुछ विशेषतायें हैं-

(क). सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, परन्तु अद्वैत के ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त में सत् के विपरीत असत् है, सत्य के विपरीत मिथ्या है। सच्चिदानन्द (ब्रह्म) सत् है। इसके विपरीत अर्थात् ब्रह्मभिन्न जगत् मिथ्या है। श्री अरविन्द जगत् को असत् या मिथ्या नहीं मानते। यदि सच्चिदानन्द सत् है और जगत् इसकी अभिव्यक्ति है तो जगत् असत् या भ्रम नहीं।

(ख). श्री अरविन्द का सच्चिदानन्द निर्गुण और सगुण दोनों है। अद्वैत वेदान्त में निर्गुण, सगुण में भेद किया गया है। ब्रह्म निर्गुण और निराकार रूप में मन, बुद्धि, वाणी के परे अतीन्द्रिय है। सगुण रूप में ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर है। परन्तु अंततोगत्वा निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत् है। श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द अतिमानस स्तर पर सृष्टिकर्ता कहलाता है। परन्तु सृष्टि सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है। सृष्टिकर्ता (अतिमानस) सत् है।

(ग). सच्चिदानन्द विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों है। सच्चिदानन्द अतिमानस स्तर पर सृष्टिकर्ता कहलाता है। यही परम चेतना का सृजनात्मक स्वरूप है। यही से चेतना भौतिक, जैविक तथा मानसिक स्तरों पर अपनी अभिव्यक्ति करती है। सभी स्तर पर न्यूनाधिक मात्रा में चेतना है, सृष्टि के कण-कण में चेतना है। परन्तु चेतना की गति अतिमानस स्तर पर ही समाप्त नहीं हो जाती। यह तो परम चेतना की प्राथमिक अवस्थाएँ हैं। इसके परे चेतना असमीम और अनंत है।

(घ). श्री अरविन्द का सच्चिदानन्द भाव-अभाव दोनों के परे है। भाव अभाव तो बुद्धि के विकल्प है, परन्तु अनंत तो सांत बुद्धि से ग्राह्य नहीं। इसे भावात्मक रूप से हम सच्चिदानन्द (सृष्टिकर्ता) कहते हैं। परन्तु यह अभावात्मक रूप से बुद्धि के परे अनिर्वचनीय है। परन्तु अनिर्वचनीय होते हुए भी यह अज्ञेय नहीं। चेतना अपने प्रारम्भिक रूप में अज्ञात तथा अज्ञेय अवश्य हैं, क्योंकि इस स्तर पर चेतना के विषय का ज्ञान मानव को नहीं हो सकता। यह परा चेतना है। इसका ज्ञान हमें 'कुछ है' के रूप में अवश्य होता है, परन्तु इसका विषय 'क्या है' यह स्पष्टतः ज्ञान नहीं हो पाता।

(ङ). श्री अरविन्द का सच्चिदानन्द एक-अनेक, सत्ता-संभूत रूप है। सच्चिदानन्द ही परम तत्त्व है जो एक है, अद्वितीय है, जो त्रयात्मक स्वरूप में है। अपने मौलिक रूप में यह सबके परे है। इसे चेतना की अनभिव्यक्त अवस्था कहते हैं। परन्तु अतिमानस के स्तर पर यह विभक्त होकर अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसका अनेक होना केवल सृष्टि के रूप में इसकी अभिव्यक्ति है। सृष्टि अनिवार्य रूप से एक सत् की अभिव्यक्ति है, परन्तु यह अभिव्यक्ति अनेक रूपों में है। अतः एक अनेक दोनों है। अविभक्त रूप में सत् एक है तथा विभक्त रूप में

अनेक। इसे हम श्री अरविन्द के सत्ता सम्बन्धी सात सूत्रों से अधिक स्पष्ट समझ सकते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार सत्ता के सात सूत्र हैं- शुद्ध सत्, चित्-शक्ति, आनन्द, अतिमानस, मनस्, मन, प्राण, जड़त्व। इसे ही परम सत्ता का विकास और हास कहा जाता है। इनसे दो गोलार्ध बनते हैं- विकास गोलार्ध और हास गोलार्ध। पहले को आरोहण और दूसरे को अवरोहण कहते हैं। प्रथम इनमें अतिमानस सृजनात्मक पक्ष है। अन्य तीन निम्नतर गोलार्ध हैं। चेतना निम्न स्तरों में पहुँच चुकी है। इसे अतिमानस आदि स्तरों में जाना है। यही विकास क्रम है।

सच्चिदानन्द के त्रयात्मक स्वरूप का विश्लेषण:- सच्चिदानन्द सत्, है, चित् है, आनन्द है। इन पर महर्षि सच्चिदानन्द ने अपने 'दिव्य जीवन' में पूर्ण प्रकाश डाला है।

शुद्ध सत्-सत् सत्ता या भाव है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु या विषय सत् है तो इसका अर्थ है कि उस विषय की सत्ता है या उसका भाव है। परन्तु वस्तु की सत्ता या उसका भाव देश और काल सापेक्ष है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या विषय की सत्ता का प्रतिपादन किसी स्थान या किसी काल में ही हो सकता है, अर्थात् वह वस्तु शून्य में नहीं। परन्तु वस्तु की यह सत्ता कालगत या देशगत है। जब देश और काल की सीमा के परे हम वस्तु की सत्ता पर विचार करते हैं तो निश्चित रूप से हम शुद्ध सत् के सम्बन्ध में विचार करते हैं। स्पष्ट है कि शुद्ध सत् केवल भाव है, इसे किसी काल और स्थान की अपेक्षा नहीं। अतः शुद्ध सत् निरपेक्ष है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द सत् को शुद्ध सत् कहते हैं। यह निरपेक्ष है। दिक् और काल से सीमा का निर्धारण होता है, अर्थात् सीसम और सान्त वस्तुओं को ही हम देश, काल और सीमा में बाँध सकते हैं। निरपेक्ष शुद्ध, सत् असीस और अनन्त है, सभी सीमाओं से मुक्त है। इसीलिये इसको न तो कोई परिभाषा है न कोई वर्णन। परिभाषा और वर्णन तो बुद्धि से ही सम्भव है, अर्थात् जिस विषय या वस्तु का ज्ञान हमें बुद्धि से होता है, उसी का हम वर्णन करते हैं या उसकी कोई परिभाषा भी देते हैं। निरपेक्ष शुद्ध सत् का ज्ञान हमें बुद्धि से नहीं हो सकता। अतः यह अपरिभाष्य और अवर्णनीय है।¹ बौद्धिक ज्ञान से हम इसे नहीं जान सकते। इसके ज्ञान के लिए हमें बुद्धि की सीमाओं को पार करना होगा। अतः यह अज्ञेय नहीं है। हम इसे जान सकते हैं, परन्तु सीमित बुद्धि से नहीं। बुद्धि से तो हमें इसके सम्बन्ध में केवल 'कुछ' के रूप में ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु 'क्या है' यह नहीं जान पाते। तात्पर्य यह है कि यह अज्ञेय नहीं है, परन्तु सीमित बुद्धि से अगम्य है। इस प्रकार असीम, अनन्त, निरपेक्ष सत् अचिन्त्य और अगम्य है।

1. This indefinable, infinite, timeless, speechless existence. It is necessarily pure Absolute. The life Divine p. 72.

शुद्ध मत के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सार्वभौम और सर्वव्यापक असीम, निरपेक्ष है, परन्तु इसे असीम, अनन्त रूप में कहा गया है। असीम, अनन्त तो अभावात्मक विशेषण है। अतः शुद्ध भाव को अभाव रूप में व्यक्त किया गया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शुद्ध सत् अभाव या निषेध रूप है। अभाव तो केवल बौद्धिक विचारों का है। इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि की दिक्, काल आदि सीमाओं के परे है। दिक् और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला असीम और अनन्त ही कहा जा सकता है। यह केवल बुद्धि की सीमा और अभिव्यक्ति की असमर्थता को प्रकट करता है। वस्तुतः इससे यही सिद्ध हो रहा है कि शुद्ध सत् शाश्वत्, सार्वभौम और सर्वव्यापक निरपेक्ष तत्त्व है।¹

सच्चिदानन्द ब्रह्म है और ब्रह्म शुद्ध सत् है। यह तीनों कालों में समान रूप से विद्यमान रहता है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में कभी इसका अभाव नहीं होता, क्योंकि यह नित्य या शाश्वत् है। काल तो परिवर्तन की सूचना देता है। इनसे अनित्यता सिद्ध होती है। परन्तु अनित्यता का आधार नित्य है। परिणामों का आधार अपरिणामी होता है। यदि ऐसा होता तो परिणाम या परिवर्तन तो निराधार हो जाता। इससे निरपेक्ष शुद्ध सत् की सत्ता त्रिकालवर्ती शाश्वत्, सार्वभौम, सर्वव्यापक सिद्ध होता है। शुद्ध सत् शुद्ध चेतना है।

चित् - शक्ति- चित् का अर्थ चेतना या ज्ञान है जो मानसिक होता है। शक्ति का सम्बन्ध कर्म से है जो शारीरिक है। अतः चित् और शक्ति तो आपाततः भिन्न है। श्री अरविन्द की विशेषता यह है कि चित् की शक्ति रूप मानते हैं, अतः दोनों को अभिन्न बतलाते हैं। उनके अनुसार चित्, चेतन या ज्ञान आवश्यक है परन्तु शक्तिरूप है, ज्ञान सकर्म है। सम्पूर्ण सृष्टि ही चेतना की अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति शक्ति या कर्म के बिना सम्भव नहीं। जड़ जिसे हम निश्चेतन या चेतनाशून्य समझते हैं, वस्तुतः चेतना का न्यूनतम स्वरूप है। इसमें भी चेतना है, क्योंकि यह चेतना की अभिव्यक्ति का निम्न स्तर है और यह जड़ जगत् जीव जगत् में विकसित होता है। यह कुछ हो जाना केवल उच्च स्तर को प्राप्त करने की चेतना है। साथ ही यह शक्ति रूप भी है, क्योंकि शक्ति के बिना जड़, जीव रूप में परिणत नहीं हो सकता। विकास तो एक स्तर से दूसरे स्तर में परिवर्तन गति या शक्ति का परिणाम है। अतः हमें स्वीकार करना होगा कि जड़ में शक्ति और संकल्प है। इसी दृष्टि से महर्षि अरविन्द कहते हैं कि चेतना से हमें केवल मानसिक (मानवीय) चेतना नहीं समझना

1. We may say that ure existence is our absolute and is itself unknowledge by our thought... transcends the terms of knowledge-the Life Divine- p. 72.

चाहिये, वरन् हमें यह भी स्वीकार करना चाहिये कि चेतना अस्तित्व की शक्ति है जो स्वचेतना से युक्त है। यह विभिन्न स्तरों पर कार्य करती है। इसे केवल मानसिक चेतना समझना समीचीन नहीं। यह मानसिक चेतना से प्राण और जड़ तत्व की गति की भी चेतना है। यह चेतना की अवचेतन, अर्धचेतन अवस्था है। इसकी गति मानसिक स्तर के ऊपर की भी हो सकती है तथा अतिमानस तक पहुँच सकती है। यह उसकी अतिचेतन अवस्था है।^१ इससे स्पष्ट होता है कि चेतना चित् - शक्ति है जो सत्ता के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत है।

श्री अरविन्द सप्रयोजन विकासवादी है और सप्रयोजन विकास चेतना को शक्ति या गतियुक्त स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं। भौतिकवादी जड़ से चेतना का यांत्रिक विकास स्वीकार करते हैं। परन्तु यह यांत्रिक विकास प्रयोजन की व्याख्या नहीं कर सकता। सांख्य दर्शन में विकास को प्रयोजनवादी माना गया है। परन्तु इस दर्शन में प्रकृति को अचेतन माना गया है। अचेतन से प्रयोजन की व्याख्या सम्भव नहीं। अचेतन की चेतन प्रयोजन का ज्ञान नहीं। इस प्रकार भौतिकवादी जड़ को सक्रिय मानते हैं, परन्तु अचेतन। इससे प्रयोजनात्मक विकास सम्भव नहीं। दूसरी ओर, सांख्य सप्रयोजन विकास तो मानता है, परन्तु प्रकृति को अचेतन मानकर इसकी व्याख्या नहीं कर पाता। इन कठिनाइयों के कारण श्री अरविन्द विकास की शक्ति को चेतन मानते हैं। यही चित् शक्ति है। चित् शक्ति का विकास विभिन्न स्तरों पर विद्यमान है। उदाहरणार्थ भौतिक, जैविक, मानसिक आदि स्तर चेतनाशक्ति सम्पन्न हैं। इनमें गति या शक्ति है तभी तो निम्न से उच्च स्तर पर विकास होता है। साथ ही इनमें चेतना है तभी तो विकास का प्रयोजन सिद्ध होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि शक्ति चेतना है तथा चेतना ही शक्ति है। इसका स्वरूप क्या है? श्री अरविन्द का कहना है कि चित् - शक्ति सत् से अपृथक् रूप से सम्बन्धित है। सत् का चित् होना आवश्यक है, क्योंकि सत् भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। सृष्टि तो जड़-चेतन है, परन्तु सृष्टि से परे सत् चित् रूप है। इसीलिए श्री अरविन्द चित् शक्ति को अन्तनिहित मानते हैं। उनके अनुसार शुद्ध सत् शिव है तो चित् शक्ति काली है। शिव-काली अपृथक् सत्ता है। इन्हें हम विचार स्तर पर पृथक् कर सकते हैं, परन्तु वास्तविक

1. It (consciousness) is no longer synonymous with mentality but indicates self-aware force of existence of which mentality is a middle term, below mentality it sinks into vital and material movements which are for us sub-conscious, above it rises into the supramental which is for us the super conscient. But in all it is one and the same thing organising itself differently.- Life Divine P. 83.

विकास स्तर पर दोनों अपृथक् हैं। शिव को ईश्वर कहते हैं, अतः चित् शक्ति ईश्वरीय शक्ति है। इसे ही योग माया कहते हैं। इस योगामाया में भगवान् सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार इस महाशक्ति की अभिव्यक्ति यह संसार है।

श्री अरविन्द चित् शक्ति को महाशक्ति भी मानते हैं, परन्तु इसे स्वतन्त्र नहीं मानते। यह सच्चिदानन्द की शक्ति है और सच्चिदानन्द से अपृथक् है। वस्तुतः यह सच्चिदानन्द की अन्तर्निहित शक्ति है। प्रश्न यह है कि यदि अन्तर्निहित है तो यह प्रकट कैसे होती है? इसी से शक्ति के कार्यों का पता लगता है। यह शक्ति मूलतः अपरिवर्तनशील शक्ति है, परन्तु अनेक रूपों में परिवर्तित होती है। यह तीन रूपों में प्रकट होती है।^१

(क). विश्वतीत रूप- इस रूप में यह पराशक्ति है जो विश्व के परे है तथा अपरिवर्तनशील है। यह सृष्टि की अनभिव्यक्त अवस्था है।

(ख). विश्वव्यापी रूप- यह शक्ति का देश और काल में व्याप्त रूप है। इस रूप में शक्ति विश्व के कण-कण में विभक्त हो जाती है। यह एक का अनेक रूपों में परिवर्तन है।

(ग). व्यक्तिगत रूप- शक्ति के कारण ही व्यक्ति और विश्व दोनों में परिवर्तन होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में यह अन्तर्ज्वाला को जगाती है तथा उसे दिव्य जीवन में परिवर्तित करती है। अतः इसे मानव व्यक्तित्व और दिव्य रूप में सन्धि स्तर समझा जाता है।

आनन्द-त्रयात्मक सच्चिदानन्द का तीसरा स्वरूप आनन्द है। तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्द सत् और चित् रूप ही नहीं वरन् आनन्द रूप भी है। यही सृष्टि की मूल समस्या का समाधान है। सृष्टि क्यों होती है, इसका प्रयोजन क्या है? इसका उपकरण क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर है 'आनन्द' जिसे हम सृष्टि कहते हैं यह आनन्द की अभिव्यक्ति है। श्री अरविन्द के अनुसार- "मैं तांत्रिक हूँ, मेरे अनुसार संसार आनन्द से उत्पन्न होता है, आनन्द में यह स्थित है और आनन्द से आनन्द में ही यह चक्रवत् भ्रमण करता है। आनन्द और शक्ति की सत्ता में यथार्थ पद है।^२ स्पष्ट है कि सच्चिदानन्द का आह्लाद, आनन्द ही सृष्टि है। आलंकारिक भाषा में भी अरविन्द कहते हैं कि सृष्टि शिव का आह्लादपूर्ण नृत्य है। तात्पर्य यह है कि शिव आनन्द में नृत्य करते हैं, यह उनकी क्रीड़ा है, लीला है। उल्लास और

1. अभय चंद्र भट्टाचार्य : श्री अरविन्द दर्शन, पृ० ३६

2. I am a Tantric. I regard the world as born of Ananda and Living by Ananda, Wheeling from Ananna to Ananda and Shakti-these are the two real terms of existence.-Yogic Sadhana P. 83. Idealistic thought of India : P.T. Raju, P. 299.

आह्लाद तो शिव का स्वभाव है। वे अतिप्रसन्न मुद्रा में नृत्य करते हैं। न तो कोई इसका कारण है और न प्रयोजन। साधारणतः हम किसी कारण या किसी प्रयोजन से ही कोई कार्य करते हैं। परन्तु आनन्द की अभिव्यक्ति का न कारण है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द के आनन्द की अभिव्यक्ति संसार में होती है। ब्रह्म अपनी क्रीड़ा के लिये संसार को उत्पन्न करता है। सच्चिदानन्द पूर्ण है, आप्तकाम है। उसे कोई कामना नहीं, उसमें कोई अपूर्णता या अभाव नहीं। परन्तु क्रीड़ा या आनन्द तो उसका स्वभाव है। यह आनन्द से किसी बाह्य दबाव या प्रयोजन के बिना एक से अनेक अनंत तथा अविभक्त से अनेक में सांत तथा विभक्त रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह तो उसकी लीला या क्रीड़ा है।

एक आवश्यक प्रश्न है कि यदि सृष्टि आनन्द की अभिव्यक्ति है तो इसमें अशुभ, दुःख, अभाव की अनुभूति क्यों? श्री अरविन्द के अनुसार अशुभ सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह मानसिक स्तर पर सीमा के कारण उत्पन्न होता है। विकास की गति जब अति मानस स्तर पर पहुँचती है तो अशुभ, दुःख समाप्त हो जाता है। यह स्थायी नहीं। श्री अरविन्द के अनुसार आनन्द निरपेक्ष तथा स्थायी है। इसका अनुभव अतिमानस स्तर पर ही होता है। सुखः-दुःख तो मानसिक प्रवाह है जो आनन्द सागर में विलीन हो जाते हैं। अतः जब हम मन की सीमाओं को पार कर जाते हैं तो अशुभ समाप्त होता है। अतिमानस स्तर पर केवल आनन्द की ही अनुभूति होती है।

विश्व-प्रक्रिया

हम पहले विचार कर आये हैं कि श्री अरविन्द सृष्टिवादी नहीं, वरन् विकासवादी है। इनके अनुसार विश्व की सृष्टि नहीं, अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति से ही स्पष्ट होता है कि विश्व की अविभक्त अवस्था है जो पुनः विभक्त हो जाती है। यही एक अद्वैत परम तत्त्व की विश्व रूप नाना तत्त्वों में अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति के संबंध में प्रश्न उठता है कि यह अभिव्यक्ति क्यों होती है, एक अनेक रूपों में क्यों परिवर्तित हो जाता है? इसका उत्तर हम पहले दे आये हैं कि यह परम तत्त्व सच्चिदानन्द का आनन्द है। आनन्द के लिये ही एक अनेक रूप धारण कर लेता है। पुनः प्रश्न है कि यह अभिव्यक्ति कैसे होती है? यही विकास प्रक्रिया है। इस विकास प्रक्रिया को उभयरूप माना गया है जिन्हें अवतरण और उत्थान कहते हैं। पहला परम तत्त्व (सच्चिदानन्द) का विश्व प्रक्रिया में अवतरण है तो दूसरा विश्व के विभिन्न स्तरों का उच्चतर रूपों में उत्थान है। इस अवतरण और उत्थान को श्री अरविन्द अंतर्वलन और विकास कहते हैं। इस प्रकार विश्व-प्रक्रिया उभयरूपक है। इसमें अवतरण और उत्थान दोनों हैं। इसका कारण यह है कि उत्थान उर्ध्वगमन है। इसमें निम्न

स्तर की ओर आये। नीचे की ओर आना अवतरण है और ऊँची स्तर को प्राप्त होना उत्थान है। अवरोहण और उत्थान दोनों का संबंध चेतना या ज्ञान से है। पराचेतना ही विश्व के विभिन्न स्तरों पर पहले नीचे उतरती है तथा पुनः नीचे के स्तरों से उपर जाती है। चेतना का अवतरण प्रायः वेदांत के समान ही है। वेदांत के अनुसार विश्व अज्ञान या अविद्या की उत्पत्ति है। अज्ञान के कारण ही ब्रह्म पर सृष्टि आरोपित हो जाती है। वस्तुतः सृष्टि तो मिथ्या है। ब्रह्म एक है, वह अनेक नहीं हो सकता। अनेकता की प्रतीति तो केवल भ्रान्ति है। संसार भ्रम है। श्री अरविन्द इसे भ्रम नहीं मानते।

श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि पूर्व चेतना का अज्ञान में निमज्जन है। पूर्ण चेतना तो सच्चिदानन्द है। परन्तु जब सच्चिदानन्द अपने आप को विभिन्न स्तरों की चेतना में निमज्जित करत हैं तभी सृष्टि होती है। यही सच्चिदानन्द का अवतरण है। प्रश्न यह है कि पूर्ण चेतना विभिन्न स्तरों पर क्यों उतरती हैं तथा अपने को पूर्णता से अपूर्णता की ओर ले जाती है? यह पूर्ण ज्ञान में रहकर ही सृष्टि क्यों नहीं करती? श्री अरविन्द का कहना है कि सच्चिदानन्द अपनी पूर्ण चेतना की स्थिति में ही सृष्टि कर सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में उच्च स्तर की सृष्टि होती, इसमें पूर्ण ज्ञान विराजमान होता। परन्तु हम जिस सृष्टि की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह प्रकाश अंधकार, सत्य और असत्य का मिश्रित रूप है। इस जगत् में अज्ञान है और इसकी उत्पत्ति अज्ञान से ही हो सकती है। परन्तु अज्ञान से उत्पन्न यह सृष्टि में ज्ञान की ओर जाने की प्रेरणा देती है। हमें एक अवसर मिलता है कि हम अज्ञान तथा अपूर्णता का अतिक्रमण कर ज्ञान तथा पूर्णता को प्राप्त कर सकें। यहीं उत्थान या आरोहण क्रम है। अतः मूल चेतना सच्चिदानन्द का अवतरण और आरोहण दोनों सार्थक है। इन दोनों को इस प्रकार समझ सकते हैं—

विश्व-प्रक्रिया

अवरोहण	सच्चिदानन्द-सत्ता ब्रह्म
अंतर्बलन	सत्
	चित्
अरोहण	अतिमानस
विकास	मनस्
	आत्मा
	जीव (प्राण)
	जड़ जगत् (भौतिक वस्तु)

उपरोक्त आठ स्तर अवरोहण और आरोहण में सम्मिलित हैं। पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता सत् - चित्, आनंद आदि स्तरों पर अवरोहण करती है। पुनः चेतना जड़, जीव, मनस्, आदि स्तरों से होती हुई अतिमनस् स्तर पर पहुँचती है। यह आरोहण क्रम है। श्री अरविन्द इन्हें दो स्तरों में विभाजित करते हैं- निम्न स्तर और उच्च स्तर।

उपरोक्त आठ स्तर अवरोहण और आरोहण में सम्मिलित हैं। पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता सत् - चित्, आदि स्तरों पर अवरोहण करती है। पुनः चेतना जड़, जीव, मनस्, आदि स्तरों से होती हुई अतिमनस् स्तर पर पहुँचती है। यह आरोहण क्रम है। श्री अरविन्द इन्हें दो स्तरों से विभाजित करते हैं- निम्न स्तर और उच्च स्तर।

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानस सच्चिदानन्द का सृजनात्मक पक्ष है। सच्चिदानन्द स्वयं विश्वातीत रूप है, परन्तु अतिमानस के माध्यम से ही वह विश्व के सम्पर्क में आकर विश्वव्यापी बन जाता है। इसीलिये अतिमानस को अविभक्त और विभक्त सत्ता के बीच श्रृंखला स्वीकार किया गया है। इस माध्यम से ही देश और काल के परे सच्चिदानन्द की सत्ता देशगत और कालगत होती है। इसी माध्यम से सच्चिदानन्द स्रष्टा बनता है। सच्चिदानन्द स्वयं स्रष्टा नहीं, परन्तु सृष्टि की संभावनाएँ उसमें हैं। इन संभावनाओं की अभिव्यक्ति अतिमानस के मानस से ही होती है। इसीलिए अतिमानस को सच्चिदानन्द की अनन्त संभावनाओं की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य भी कहा जाता है।

श्री अरविन्द अतिमानस को सच्चिदानन्द का गौण अवस्थान भी कहते हैं। सच्चिदानन्द की मूल अवस्था तो आत्मवत्ता है। आत्मवत्ता परमतत्त्व का देशातीत, कालातीत पूर्ण अविभक्त रूप है। सृष्टि के द्वारा यह रूप प्रसारित होता है। इसीलिये अतिमानस को सच्चिदानन्द का आत्म प्रसारण भी कहते हैं, क्योंकि अतिमानस के स्तर पर ही एक का अनेक में विस्तार होता है। परन्तु इस आत्म बिस्तार से सच्चिदानन्द का अद्वैत रूप समाप्त नहीं होता, वह एक ही बना रहता है। यह अतिमानस की सबसे बड़ी विशेषता है हकि 'यह सच्चिदानन्द (ब्रह्म) का विश्व रूप में विस्तार तो करता है, परन्तु यह सच्चिदानन्द का विभाग नहीं करता। यह केवल एक अद्वैत रूप को विश्व के विविध रूपों में परिवर्तित करत है। परन्तु सच्चिदानन्द के अद्वैत रूप को अक्षुण्ण बनाये रखता है।^१ इस आवश्यक प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि अतिमानस के माध्यम से जब एक (ब्रह्म) अनेक रूपों में

1. Supermind is the vast self extension of Brahman that contains and develops that by the idea it develops the innate principle of existence. Consciousness and bliss out of their indivisible unity. It differentiates them but does not divide. Sri Aurobindo. The life Divine, p. 120.

परिवर्तित हो जाता है तो उसकी एकता और अविभाज्यता कैसे बनी रहती है? श्री अरविन्द का उत्तर है कि सच्चिदानन्द देशातीत और कालातीत है। परन्तु सच्चिदानन्द का यह विश्वातीत रूप हमारी बुद्धि के परे है। इस विश्वातीत रूप का हमें मानसिक रूप से ज्ञान नहीं हो सकता। निर्गुण एवं निर्विशेष रूप अगम्य है। इसके देशगत, काल-गत रूप अर्थात् सविशेष रूप का ही हमें ज्ञान हो सकता है। अतः अगम्य सच्चिदानन्द अतिमानस के माध्यम से बोधगम्य हो जाता है। अतः सान्त मानव अनन्त का ज्ञान इसी से कर सकता है।

श्री अरविन्द अतिमानस को विभिन्न संज्ञा प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, अतिमानस 'ऋत-चित्' है। ऋत् शब्द का वैदिक अर्थ नियम का या व्यवस्था है। श्री अरविन्द के अनुसार 'ऋत-चित्' एक चेतन सत्ता है, क्योंकि उसमें सच्चिदानन्द की चेतना रहती है। इसे 'चेतनसत्ता' वास्तविक प्रत्यय, सत्य-संकल्प का स्रष्टा, सृजनात्मक प्रत्यय, स्रष्टा आदि कहा गया है। इन विशेषणों से अतिमानस का सृजनात्मक स्वरूप स्पष्ट होता है। इस सृजनात्मक पक्ष की प्रबलता के कारण ही यह स्रष्टा (ईश्वर) कहलाता है।

परन्तु श्री अरविन्द का अतिमानस रूप आचार्य शंकर रामानुज आदि के ईश्वर से भिन्न है। आचार्य शंकर का ईश्वर मायोपाधिक है, अर्थात् माया की उपाधि के कारण है। श्री अरविन्द का अतिमानस सच्चिदानन्द का गौण अवस्थान है, परन्तु तत्त्वतः यह सच्चिदानन्द ही है। आचार्य शंकर का ईश्वर माया, अनृत, असत है, श्री अरविन्द का अतिमानव असत नहीं। इसी प्रकार श्री अरविन्द का अतिमानस आचार्य रामानुज का अतिमानस असत नहीं। इसी प्रकार श्री अरविन्द का अतिमानस आचार्य रामानुज से भिन्न हैं आचार्य रामानुज के अनुसार पर और अपर ब्रह्म (ईश्वर) एक ही है, जड़ ईश्वर का शरीर है, ईश्वर शरीरी है। श्री अरविन्द का अतिमानस सच्चिदानन्द का सृजनात्मक पक्ष है। यह विश्वातीत नहीं, यह जड़ या अचेतन भी नहीं।

अन्त में, अतिमानस में त्रिविध रूपान्तरण की चर्चा आवश्यक है। श्री अरविन्द ने अपने विकास के प्रकरण में इसकी विशद् व्याख्या की है। यह अतिमानस में त्रयात्मक परिवर्तन से शरीर, जीवन, मन आदि सभी में परिवर्तन होता है। इनकी व्याख्या विकास की विशेषताओं के अन्त में दर्शाया गया है।

विकासवाद

महर्षि अरविन्द का विकासवाद उनके दर्शन दुर्ग का मुख्य द्वार है। इसके माध्यम से ही उनके दुर्गम दर्शन अंतरंग में सुगम रीति से पहुँचा जा सकता है। कुछ दर्शनिक तो इसे ही श्री अरविन्द दर्शन का सार ही स्वीकार करते हैं। स्वयं महर्षि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ

‘दिव्य जीवन’ में विकासवाद की विस्तृत व्याख्या की है। महर्षि ने अपने विकासवाद को इन्ट्रेगरल इवोल्यूशन नाम दिया है। हम इसे पूर्ण विकासवाद मानते हैं, क्योंकि यह अपूर्ण से पूर्ण होने को ही विकास का प्रयोजन स्वीकार करता है। इसे सर्वांगीण विकासवाद भी कहते हैं, क्योंकि यह भौतिक जैविक और मानसिक (जड़, प्राण, मन) आदि सभी स्तरों का विकास स्वीकार किया करता है। इसे ऐक्य विकासवाद भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार सम्पूर्ण विकास एक सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति अनेक रूपों में है, परन्तु इसका अन्तिम उद्देश्य उसी एक सच्चिदानन्द को प्राप्त करना है। अतः विकास बतलाया है, क्योंकि विभिन्न स्तरों का उन्मेष ही विकास का प्रमुख प्रयोजन है। कुछ विद्वान् इसे समन्यवादी विकासवाद कहते हैं, क्योंकि यह अन्य विकासवादी सिद्धांतों के सार का संग्रह करता है। उनकी त्रुटियों का त्याग करके उनके गुणों का ग्रहण करता है। हम चाहे इसे जिस नाम से पुकारे, इतना तो अवश्य है कि श्री अरविन्द का विकासवाद पाश्चात्य और प्राच्य विकासवाद के इतिहास में एक नयी शृंखला है, एक नयी दिशा है। परन्तु इस नयी दिशा को समझने के लिये हमें विकासवाद की प्राचीन दिशा से परिचित होना आवश्यक है।

विकासवाद पश्चिम का माना जाना हुआ दार्शनिक सिद्धान्त है। डर्बिन, हरबर्ट, एलेकजेण्डर, वर्गसां आदि अनेक विकासवादी विख्यात हैं। पश्चिमी दर्शन में विकासवाद मुख्यतः दो प्रकार का है— यंत्रवादी और प्रयोजनवादी। दोनों में भेद यह है कि पहला आदि से अंत की विकासवाद जड़ से चेतना की यंत्रवत् उत्पत्ति स्वीकार करता है। परन्तु निश्चयन जड़ से अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति क्यों होती है, इसका उत्तर यह नहीं देता? इसके विपरीत प्रयोजनवादी विकासवाद विकास का कारण है। विकास किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हो रहा है। परन्तु यह भी विकास के जैविक पक्ष की व्याख्या नहीं करता। जीवकोष और शारीरिक परिवर्तनों की व्याख्या इसमें संतोषप्रद नहीं। अतः यह भी अपूर्ण है।

उपरोक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए नये विकासवादी दार्शनिकों को दो प्रकार के विकासवाद बतलाते हैं— क्रमिक और उन्मेषवादी। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि विकास निश्चित रूप से अपूर्ण से पूर्ण की ओर अग्रसर हो रहा है, पूर्णता को प्राप्त करना ही इसका प्रयोजन है। परन्तु प्रश्न यह है कि विकास की गति क्रमशः है— भौतिक, जैविक, मानसिक स्तरों पर विकास प्रत्येक चरण को क्रमशः पार करता हुआ निरपेक्ष सत्ता में मिल जाता है अथवा इसके प्रत्येक चरण अनिश्चित होते हैं और अतिमानसिक स्तर पर एकाएक उन्मेष कर निरपेक्ष सापेक्ष में सर्वांगीण एकता को प्राप्त कर लेता है।^१ इसके साथ ही एक

१. श्री अभयचन्द्र भट्टाचार्य : श्री अरविन्द दर्शन, पृ० १००

ज्ञान मीमांसीय प्रश्न भी जुड़ा है। निरपेक्ष सत्ता का ज्ञान मानसिक स्तर पर सम्भव है अथवा मानव का ससीम मन असीम निरपेक्ष तत्त्व को जानने में असमर्थ है? क्रमिक विकासवादी सुसम्बद्ध पूर्णता है जिसकी ओर विकास की गति अग्रसर है। विकास का अन्तिम चरण निरपेक्ष सत्ता है जो बुद्धिगम्य है। स्पष्ट है कि विकास क्रमिक है तथा मानव बुद्धि परम सत्ता का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। इसके विपरीत उनमेषवादी यह स्वीकार करते हैं कि विकास अपूर्ण से पूर्णता की ओर अवश्य है, परन्तु विकास का प्रत्येक चरण अज्ञात तथा अनिश्चित है। इसे साथ यह भी मानते हैं कि मानव को अतिमानसिक उन्मेष की आवश्यकता है जिससे वह एकाएक निरपेक्ष सत्ता को प्राप्त कर लेगा। साथ ही यह सत्य है कि विकास अभी मानसिक स्तर पर है, परन्तु मानव मन ससीम है, असीम निरपेक्ष को ग्रहण करने में असमर्थ है।

श्री अरविन्द उन्मेषात्मक विकास स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सच्चिदानन्द ही परम तत्त्व है और इसी का आत्मसंयुक्त विकास है। इसी सच्चिदानन्द की ओर विकास की गति उनमुख है। इसके अनेक चरण हैं, सभी चरण अपूर्णता से पूर्णता की ओर है। पूर्णता की ओर अभिमुख होना तथा पूर्णता को प्राप्त करना ही विकास का प्रयोजन है। यह प्रयोजन आध्यात्मिक है। इस आध्यात्मिक प्रेरणा से ही भौतिक, जैविक और मानसिक स्तरों पर विकास हुआ है। जड़ वस्तु, मन आदि इसके विभिन्न चरण हैं। सभी में चेतना का स्तर है। भौतिक या जड़ वस्तु भी अचेतन नहीं। उसमें भी चेतना की न्यून मात्रा है। यह चेतना मनस् (मानव) तक पहुँची है। इसे आगे बढ़ाना है। मानव को दिव्य मानव बनना है। धरती पर दिव्य पुरुषों का समाज होगा। परन्तु दिव्य पुरुष में परिवर्तन का समय निश्चित नहीं। एकाएक मानव दिव्य प्रकाश के उन्मेष से दिव्य मानव हो जायेगा।

उपरोक्त विवरण से श्री अरविन्द का उन्मेषात्मक विकास स्पष्ट है। उनके विकावाद् की विशेषताएँ निम्न हैं-

(क). श्री अरविन्द के विकासवाद में 'क्यों' का संतोषजनक उत्तर है। हम पहे कह आये है कि यंत्रवादी विकास में क्यों उत्तर मिलता। जड़ से चेतन का विकास हुआ, यही मान्यता यांत्रिक है। परन्तु जड़ से चेतन क्यों विकसित होता है इसका उत्तर यह नहीं देता। इसका उत्तर श्री अरविन्द देते हैं। उनके अनुसार विकास का प्रत्येक चरण अध्यात्म से प्रेरित है। जिसे हम जड़ कहते हैं उसमें भी चेतना है। उसमें अस्तित्व की चेतना है, अपने से ऊपर जाने की कामना है। अतः वह प्राण या जीव स्तर को प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार जीव मनस स्तर को प्राप्त करना चाहता है। इस यात्रा के पीछे चेतना का विकास ही

प्रयोजन है। चेतना सुप्त थी, जाग्रत हुई और जागरण को प्राप्त होकर पूर्ण चेतना की ओर अग्रसर होना चाहती है, क्योंकि वह पूर्ण चेतना का अंश है।

(ख) श्री अरविन्द का विकासवाद 'कैसे' का संतोषप्रद उत्तर देता है। श्री अरविन्द के अनुसार- सच्चिदानन्द ही परम तत्त्व है और संपूर्ण सच्चिदानन्द की लीला या क्रीड़ा का प्रयोजन केवल आरम्भ विस्तार है। परम तत्त्व आत्म-गोपन करता है तथा आत्म प्रकाशन करता है। अद्वैत सत्ता आत्म-प्रसारण करती है। इसके फलस्वरूप चर और अचर सभी में सत्ता व्याप्त हो जाती है। यह सत्ता का आत्मा गोपन है अर्थात् चराचर (अनेक) में सत्ता (एक) गुप्त हो जाती है। पुनः सत्ता आत्म-संकोच करती है, अनेक से एक की ओर (स्व सत्ता) की ओर अग्रसर होती है तथा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार आत्मा गोपन और आत्माभिव्यक्ति नामक उभयात्मक क्रिया से 'कैसे' विकास का उत्तर मिल जाता है।

(ग). श्री अरविन्द के विकास का स्वरूप उभयात्मक है। इसके दो स्वरूप हैं- आरोहण और अवरोहण। इस प्रकार श्री अरविन्द सम्पूर्ण विकास को दो स्तरीय में विभाजित करते हैं, जिन्हें निम्न स्तर और उच्च स्तर कहते हैं। श्री अरविन्द का कहना है कि निम्न का उच्च स्तर में विकास तब तक नहीं होगा जब तक उच्च स्तर निम्न स्तर में अन्तर्निहित न हो। उदाहरणार्थ, जड़ से जीव का विकास नहीं हो सकता यदि जड़ में अन्तर्निहित न हो। इस प्रकार आरोहण के तीन स्तर-जड़ प्राण और चरण हैं। उदाहरणार्थ, अवरोहण क्रम- सत्, चित्, शक्ति, आनन्द, अतिमानस, मनस्। अवरोहण के तीन स्तर-मनस्, प्राण और जड़। परन्तु इनमें अवांतर भी कई चरण हैं। उदाहरणार्थ, अवरोहण क्रम- सत्, चित्, शक्ति आनन्द, अतिमानस, मनस् चैत्य सत्ता, प्राण और जड़, आरोहण क्रम- जड़, प्राण, चैत्य सत्ता, मनस् अतिमानस, आनन्द, चित् शक्ति और सत्। इनमें भी मनस् और अतिमानस में कई अवांतर चरण हैं- मनस्, उच्चतर मनस, प्रदीप्त मनस्, स्वानुभूति, अधिमानस और अतिमानस। इससे स्पष्ट है कि विकास की गति शनैः शनैः होती है। इसे कई स्तरों की यात्रा करती हुयी आगे बढ़नी पड़ती है तथा पुनः कई स्तरों से नीचे उतरना पड़ता है।

(घ). श्री अरविन्द की विकास प्रक्रिया त्रिरूपात्मक है। इनके तीन रूप हैं- प्रसारण, उन्नयन और एकीकरण। पहला रूप प्रसारण है। एक स्तर का विकास दूसरे स्तर में होता है जैसे जड़ का जीव में, जीव का मन में, तो प्रथम स्तर प्रस्फुटित हो जाता है। यह सरल से जटिल रूप है। जड़ प्रस्फुटित होकर जीव में विकसित होता है तो जीव को धारण करने के लिये पर्याप्त मात्रा में अपने को प्रसारित करता है। दूसरा रूप उन्नयन उच्च स्तरों

की ओर उत्थान है। जड़ का जीव में और जीव का मनस् स्तर पर उत्थान होता है। चेतना अधिकाधिक सूक्ष्म होती जाती है, जैसे जड़ से जीव और मनस् स्तरों की चेतना में सूक्ष्मता का भेद है। तीसरा एकीकरण है। यह निम्न स्तर का उच्च स्तर के साथ हो जाना है। दोनों स्तर मिलकर व्यापक क्षेत्र बना लेते हैं। इससे सर्वांगीण उन्नति होती है। तीनों रूपों को उर्ध्वगामी, अधोगामी और अन्तर्गामी रूप भी कहते हैं। इनमें से अन्तर्गामी को श्री अरविन्द भगवान् शिव का तीसरा नेत्र कहते हैं जो पूर्ण प्रकाश है।

(ङ). श्री अरविन्द का विकास व्यक्तिगत और विश्वव्यापी दोनों है। इसमें व्यक्ति और समिष्ट दोनों का विकास होता है। दोनों में चेतना का विकास हो रहा है। विश्वव्यापी स्तर पर विकास है- भौतिक, जैविक और मनस् स्तरों आध्यात्मिक विकास हो रहा है। इसे विश्वात्मा का विकास माना गया है। यह जगत् में दिव्यता का अनावरण है। जगत् में चेतना जड़ से मनस् तक पहुँच गयी यही मानव जगत् है। इसके बाद चेतना का विकास अतिमानस स्तर में होगा। इसके साथ ही व्यक्ति की चेतना का विकास हो रहा है। व्यक्तिगत विकास जीवात्मा का विकास है। जीवात्मा चैत्य पुरुष है इसे दिव्य ज्वाला माना गया है। परन्तु या अज्ञान से आच्छादित है। इस अज्ञान का निराकरण करना है। अज्ञान के निराकरण से ही जीवात्मा का प्रकाश परम प्रकाश अर्थात् प्रकाश-पुंज को प्राप्त करेगा। जिसका स्वरूप जीवात्मा के प्रकाश में विद्यमान है। जब तक अंतरात्मा विश्वात्मा के सम्मुख नहीं पहुँचती, शरीरधारी होती रहती है। यही व्यक्ति का पुनर्जन्म है। इसकी गति अनवरत रूप से तब तक चलेगी जब तक व्यक्ति की चेतना विश्व चेतना रूप न हो जाय।

(च). श्री अरविन्द का विकास व्यक्तिगत मुक्ति और सर्वमुक्ति में समन्वय स्थापित करता है। सर्वमुक्ति तब तक पूर्ण नहीं जब तक सभी की मुक्ति न हो जाय। मुक्ति अज्ञान से पूर्ण ज्ञान तथा प्रकाश की अवस्था है। परन्तु ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक समाज में कोई भी अज्ञानी रहे। यही विश्वमुक्ति का सिद्धांत है। महायान बौद्ध दर्शन में व्यक्तिगता निर्वाण (सामूहिक निर्वाण) के बिना अपूर्ण माना गया है। व्यक्तिगत निर्वाण स्वार्थ का प्रतीक है। सामूहिक निर्वाण निःस्वार्थ है। श्री अरविन्द व्यक्तिगत मुक्ति को सर्वमुक्ति के बिना अपूर्ण मानते हैं। मानवता की मुक्ति में व्यक्ति और समाज में समन्वय है।

(छ). श्री अरविन्द के विकास की विशेषता त्रयात्मक परिवर्तन है। इसके अनुसार व्यक्ति और विश्व का अन्तिम विकास सत के क्षेत्र में रूपांतरण है। इसे अतिमानसिक रूपांतरण कहते हैं। इससे शरीर, जीवन, मन आदि सभी में परिवर्तन होता है।

(क). चैतन्य रूपांतरण- हमारे व्यक्तित्व का एक बाह्य स्वरूप है जिसे शरीर कहते हैं। दूसरा एक आन्तरिक स्वरूप है जिसे चैत्य पुरुष कहते हैं। यह आत्मा का अविनाशी तथा अपरिणामी रूप है। इस अन्तरात्मा के आलोक में हमें अपने भौतिक, जैविक और मानसिक व्यक्तित्व को आलोकित करना चाहिये और अन्तरात्मा के आलोक में ही अपने आचरण में परिवर्तन करना चाहिये। यही आत्मा-शुद्धता का अनुशासन है।

(ख). अध्यात्मिक रूपांतरण- इसके अनुसार जीवन अपने को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना आवश्यक है। यह चैत्यपुरुष का उच्चतर सत् की ओर उन्मुख होना है। यह उच्च आदर्शों का अनुशीलन है। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर मनुष्य उच्चतर प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, आनन्द प्राप्त करता है। यह सत्य, शिव और सुन्दर का अनुशीलन है।

(ग). अतिमानसिक रूपांतरण- यह मन का परिवर्तन है। मन अतिमनस् में परिवर्तित हो जाता है। यह शुद्ध ज्ञान तथा एकता का स्तर है। मनस् और अतिमनस् के मध्य चार स्तर हैं- उच्चतर मनस्, अन्तर्दृष्टि और अधिमानस। इन सभी स्तरों पर कुछ अज्ञान का अंश रहता है। अनिमनस् पूर्ण प्रकाश है। मानव का अतिमानव या दिव्य मानव रूप में परिवर्तन है। यही अतिमानस का आमा में अवतरण ही अतिमानसिक रूपांतरण कहलाता है। इसके फलस्वरूप आत्मा में अज्ञान का अंश समाप्त हो जायेगा और मानव प्रज्ञान पुरुष में परिवर्तित होगा और उसका जीवन दिव्य जीवन होगा।

प्रज्ञान पुरुष तथा दिव्य जीवन

भारतीय दर्शन मूलतः मोक्षवादी है। प्रायः भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ या निःश्रेयस माना है। मोक्ष जन्म-मरण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वथा विनाश है। दुःखों का आत्यन्तिक अभाव है। परन्तु ऐसी अवस्था तो वर्तमान शरीर के समाप्त होने या मरने पर ही आ सकती है। इसीलिये इसे मृत-मोक्ष भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध तो भविष्य से है, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् पुन-जन्म नहीं होगा। परन्तु दुःखों के अभाव का आनन्द इस जीवन में भी मिल सकता है। जब तक शरीर चल रहा है तब तक अपार शान्ति का अनुभव भी किया जा सकता है। इस अवस्था का नाम जीवन्मुक्ति हैं, क्योंकि जीवन के रहने पर भी इसमें मोक्ष का आनन्द है। संसार में यही सर्वोच्च आदर्श, धरती पर पूर्ण आध्यात्मिक जीवन का आनन्द है। भगवद्गीता में, प्रायः इसी को मानव का आदर्श 'स्थितिप्रज्ञ' की अवस्था माना गया है। बौद्ध दर्शन में इसी के समान बोधिसत्त्व धरती पर मानव का आदर्श है। इसी प्रकार प्रायः भारतीय दार्शनिक मानवीय आदर्श को स्वीकार करते हैं।

महर्षि अरविन्द भी धरती पर मानवीय आदर्श स्वीकार करते हुए इसे 'प्रज्ञान पुरुष' की संज्ञा देते हैं जिसका सम्बन्ध 'दिव्य जीवन' से है। उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम ही 'दिव्य जीवन' है जिसके द्वितीय भाग के द्वितीय खण्ड में प्रज्ञान पुरुष पर पर्याप्त विचार किया गया है। यह नाम भी कुछ विचित्र सा है। भारतीय दर्शन के लिए अज्ञात सा है। परन्तु इसकी अवधारणा भारतीय दर्शन के जीवनमुक्त स्थित प्रज्ञ और बोधिसत्व से मिलती-जुलती है। सम्भवतः यह शब्द ईसाई धर्म ग्रन्थों से लिया गया है। ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार नासिस का अर्थ रहस्यानुभूति है और नासिस वे हैं जिन्हें रहस्यानुभूति है। रहस्य की अनुभूति असाधारण ज्ञान है अथवा इसे विशेष ज्ञान भी कह सकते हैं। इस असाधारण ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को महर्षि ने प्रज्ञान पुरुष माना है। इसे उन्होंने जीवनमुक्ति नहीं कहा है। यद्यपि इसकी अवधारणा जीवनमुक्त से किसी अंश में मिलती है, परन्तु स्वयं महर्षि ने इसका जीवनमुक्त से भेद स्पष्ट किया है। यह सत्य है कि प्रज्ञान पुरुष एक नवीन संज्ञा है, परन्तु इसकी अवधारणा में जीवनमुक्त, बोधिसत्व, स्थितप्रज्ञ आदि अवधारणाओं से किसी अंश में समानता अवश्य है।

महर्षि अरविन्द विकासवादी है। विकास का क्रम मनस् से अतिमनस् ठै। इसी के साथ मानव का मानसिक ज्ञान का अतिमानसिक बोध में रूपांतरण है। इस अतिमानसिक रूपांतरण का परिणाम ही प्रज्ञान पुरुष की उत्पत्ति है। श्री अरविन्द इसे अतिमानसिक चेतना का अवतरण मानते हैं। इस अवतरण के साथ ही प्रज्ञान पुरुष उत्पन्न होता है। कैसे? अतिमानस के अवतरण के साथ निश्चेतना अतिचेतना में परिवर्तित हो जायेगी। परन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यह चेतना का आरोहण नहीं अवतरण है और प्रज्ञान पुरुष अवतरण का परिणाम है। हम जानते हैं कि विकास उभयमुखी है-चेतना नीचे से ऊपर उठती है तथा ऊपर से नीचे आती है। नीचे से ऊपर जाने वाली चेतना का आरोहण है- भौतिक, जैविक, मानसिक स्तरों पर है। श्री अरविन्द के अनुसार चेतना के इस विकास का कारण 'चैत्य पुरुष' है। यह भौतिक, जैविक, मानसिक स्तरों का चैत्यीकरण है। दूसरे शब्दों में, चैत्य पुरुष के कारण अन्नमय, प्राणमय और मनोमय पुरुष का विकास है। परन्तु चैत्य पुरुष अतिमानस की चेतना से विकसित होता है। अतिमानस की चेतना अवतरण कर (नीचे स्तर से) चैत्य पुरुष का विकास करती है। अतः अतिमानस के अवतरण से प्रज्ञान पुरुष का निर्माण होता है।

अतिमानस का अवतरण व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों होता है। तात्पर्य यह है कि इससे व्यक्ति और विश्व दोनों प्रभावित होते हैं। यह केवल जड़, जीव और मन ही में

परिवर्तन नहीं उत्पन्न करता वरन् समस्त भौतिक, जैविक और मानसिक स्तरों का परिवर्तन उत्पन्न करता वरन् समस्त भौतिक, जैविक और मानसिक स्तरों का परिवर्तन होता है। यह व्यक्ति और विश्व दोनों का चैत्वीकरण है। इसका फल यह होगा कि कोई एक व्यक्ति ही प्रज्ञान पुरुष नहीं होगा वरन् मानव मात्र प्रज्ञान पुरुषों में परिवर्तित होगा। इससे स्पष्ट होता है कि अतिमानस के अवतरण से समाज प्रज्ञान पुरुषों का समाज होगा। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञान पुरुष अनेक होंगे।

एक स्वाभाविक प्रश्न यहाँ उत्पन्न होता है कि जब प्रज्ञानी पुरुषों का समाज बनेगा तो सभी प्रज्ञान पुरुषों का ज्ञान एक समान होगा? श्री अरविन्द का उत्तर है कि इनमें गुणात्मक भेद तो नहीं होगा, परन्तु मात्रा का भेद होगा। असाधारण दिव्य ज्ञान से तो सभी सम्पन्न होंगे, परन्तु दिव्यता या आध्यात्मिकता एक जैसी नहीं होगी। मात्रा का न्यूनाधिक भेद तो रहेगा। इस मात्रा भेद का कारण यह है कि अतिमानस का प्रकाश ज्यों-ज्यों विस्तृत होगा त्यों-त्यों अज्ञान का अंधकार समाप्त हो जायेगा। इसके साथ प्रकाश जिस मात्रा में जो प्राप्त करेगा वह उसी मात्रा में प्रज्ञान भी होगा। इससे स्पष्ट है कि मानव का समाज प्रज्ञान पुरुषों के समाज में परिवर्तित होगा। परन्तु पुरुषों के समाज में भी प्रकाश की मात्रा में भेद होगा।

श्री अरविन्द प्रज्ञान पुरुषों का समाज तो स्वीकार करते हैं, परन्तु इसकी जाति को नहीं मानते। इसका कारण यह है कि प्रज्ञान पुरुष का एक स्तर है, जो सम्यक् अनुशीलन से प्राप्त होता है। इसका अनुशीलन क्रमशः होता है। हम जानते हैं कि मनस् से अतिमनस् के मध्य कई स्तर हैं- उच्चतर मनस्, प्रदीप्त मनस्, अन्तर्दृष्टि, अधिमनस् आदि। इन सभी को सहसा नहीं प्रकाशित किया जा सकता। इनका क्रमिक रूपान्तरण ही सम्भव है। इससे स्पष्ट है कि प्रज्ञान पुरुष का पूर्वनिर्मित सांचा नहीं जिसमें ढलकर सहसा सभी प्रज्ञान पुरुष हो जाय। जब साँचे में तैयार ये नहीं किये जाते तो सभी समान कैसे होंगे। इनमें न्यूनाधिक मात्रा में भेद अवश्य होगा। परन्तु इन भेदों में भी अभेद होगा। इस अभेद का कारण यह है कि प्रज्ञान पुरुषों का निर्माण अतिमानस स्तर पर होगा, और अतिमानस विभिन्नताओं में एकता है। इससे स्पष्ट है कि प्रज्ञान पुरुषों के समाज में विषमता और समता दोनों विद्यमान रहेगी।

श्री अरविन्द प्रज्ञान पुरुषों के आचरण और व्यक्तित्व की भी चर्चा करते हैं। इनके अनुसार प्रज्ञान पुरुष व्यक्तित्वपूर्ण होंगे। परन्तु इनका व्यक्तित्व निजी सीमा का अतिक्रमण कर व्यापक होगा। व्यक्तित्व तो अन्य लोगों के व्यक्तित्व के समान ही होगा, परन्तु उनकी भावनाएँ व्यापक होंगी। वे अहंकाररहित व्यक्ति होंगे तथा उनके आचरण में 'मैं' और 'मेरा' का भाव नहीं होगा। व्यक्ति का अहंकार ही व्यक्ति को व्यक्तिगत बनाता है। अहंकार पर

विजय प्राप्त करने वाला का आचरण सर्वहित या लोक हित में होगा। इसीलिये श्री अरविन्द कहते हैं कि प्रज्ञान पुरुष के कार्य सर्वहित में होंगे। ये लोग शरीर के लिए नहीं वरन् आत्मोत्सर्ग के लिए कार्य करेंगे। आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा से ही व्यक्ति सर्वहित में कार्य करता है। शरीर ही भेद का कारण है। जिसकी दृष्टि में शरीर नहीं आत्मा है, वह आत्मोन्नति के लिये समष्टिगत आचरण करेगा। अतः उसके किसी आचरण में पूर्ण आत्माज्ञान की अभिव्यक्ति होगी। इस आत्मज्ञान में वह सम्पूर्ण प्रकृति का नियंत्रण करता है और सम्पूर्ण में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति का दर्शन करता है।^१ यही प्रज्ञान पुरुषों का सार्वभौम आचरण है।

एक आवश्यक प्रश्न है कि प्रज्ञान पुरुष जब व्यक्तित्व पूर्ण होंगे तो शरीर के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या होगा? श्री अरविन्द के अनुसार प्रज्ञान पुरुष शरीर के दास नहीं वरन् शरीर के स्वामी होंगे। शरीर ही उनके नियंत्रण में होगा, वे शरीर के नियंत्रण से मुक्त होंगे। उन्हें शरीरजन्य कष्ट या अभाव का अनुभव नहीं होगा। इसका कारण यह है कि उनका शरीर इतना व्यापक होगा कि उसमें व्यक्तिगत कष्ट या अभाव का कोई महत्व ही नहीं होगा। ऐसे प्रज्ञान पुरुष असाधारण मानव या अतिमानव की श्रेणी में आते हैं जो अपने सुख और सुखी और अपने दुःख से दुःखी नहीं होते। सुख-दुःख की व्यक्तिगत अनुभूति तो मानस स्तर पर है। अतिमानस तो आत्मोत्सर्ग की चेना है। इसका संचालन आध्यात्मिक नियमों के अनुकूल, सर्वात्मा के लिये होगा।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि प्रज्ञान पुरुष आध्यात्मिक अतिमानव है जो देहसहित भी देहरहित हो धरती पर जीवन यापन करते हैं। ऐसे देहसहित देवों का 'मनुष्य-देव' कहा जा सकता है। इनका शरीर ही मनुष्य का होता है, परन्तु इनका ज्ञान देवता के समान है। ऐसे ही धरती की विभूतियों को भारतीय दर्शन में 'जीवन-मुक्त' कहा गया है, क्योंकि ये जीवन के रहते ही मुक्ति का आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रश्न यह है कि जीवन्मुक्त और प्रज्ञान समान है? ये समान अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु असमान है। श्री अरविन्द जीवन्मुक्त और प्रज्ञान पुरुष में निम्न असमानता दिखलाते हैं-

(क). जीवन्मुक्त आध्यात्मिक प्रगति का अंत है, परन्तु प्रज्ञान पुरुष नहीं। जीवन्मुक्त अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त कर निष्काम जीवनयापन करता है। उसे प्राप्तव्य की

1. A complete self knowledge in all things and at all moments is the gift of supramental gnostic.. with a complete self mastery, not merely in the sense of control of nature, but in the sense of a power of perfect self expression in nature. Sri Aurobindo : The Life Divine P. 864.

प्राप्ति हो गयी, अब उसे कुछ करना शेष नहीं। प्रज्ञान पुरुष विकास का अंत नहीं। प्रज्ञान पुरुष की उत्पत्ति या निर्माण अतिमानस स्तर पर होता है। यह सभी मानसिक दुर्बलताओं का अंत है। परन्तु विकास की गति आगे भी है। वह अपनी मानसिक वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अपनी इंदियों तथा मन को विकास की नयी दिशा में लगाता है। अतः इसमें निष्कामना अवश्य है, परन्तु जीवन्मुक्त के समान निष्क्रियता नहीं।

(ख). जीवन्मुक्त और प्रज्ञान पुरुष की दृष्टि में भेद है। जीवन्मुक्त संसार में रहता है परन्तु तटस्थ भाव से। सुख-दुःख के प्रति वह उदासीन बना रहता है। अतः जब वह किसी विषय या वस्तु को देखता है तो उसके गुण दोषों से मुक्त होकर देखता है। यही उसकी संसार के प्रति तटस्थता है। इस तटस्थता का कारण संसार की मिथ्यात्व है। वह समझता है कि समस्त नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है। इसीलिए उसका सांसारिक वस्तुओं से कोई लगाव नहीं होता। इसके विपरीत प्रज्ञान पुरुष संसार की अनेका का दर्शन करता है। यहा सम्पूर्ण प्रकृति में एक ही चेतना के विस्तार का दर्शन करता है। अतः वह संसार को सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति मानता है। अतः वह इसके प्रति तटस्थ नहीं होता। वह संसार से एक लगाव का अनुभव करता है, अन्य सांसारिक व्यक्तियों के प्रति अपना कुछ कर्तव्य भी मानता है।

(ग). जीवन्मुक्त होना व्यक्तिगत लाभ की पराकाष्ठा है, परन्तु प्रज्ञान पुरुषों का अभ्युदय मानव हित है। जीवन्मुक्ति का आधार व्यक्तिगत मुक्ति है परन्तु प्रज्ञान पुरुषों का समाज सर्वमुक्ति की पूर्वमान्यता है। साधक अपनी अनवरत साधना से जीवन्मुक्त हो जाता है। दूसरे से इसका कोई संबंध नहीं। ज्ञान के प्रकाश से एक साधक जीवन के शेष रहते हुए मुक्ति का आनन्द लेने लगता है। परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य समाज में व्यक्ति अज्ञान के अंधकार में रहते हैं। श्री अरविन्द सर्वमुक्ति को स्वीकार करते हैं, अतः समाज में अन्य व्यक्तियों के अज्ञानी रहने पर कोई यथार्थ प्रज्ञान पुरुष नहीं सकता। उनका यह कर्तव्य है कि वह मानव-मात्र का अज्ञान दूर करें। अतः प्रज्ञान पुरुष होना व्यक्तिगत लाभ नहीं वरन् एक सामाजिक लाभ है, समाज के अन्य व्यक्तियों को भी इससे लाभान्वित होना है।

(घ). जीवन्मुक्ति परममुक्ति की पूर्वावस्था है। पहले से संदेह मोक्ष तथा दूसरे को विदेह मोक्ष भी कहते हैं। जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है। जब यह कर्म समाप्त हो जाता है तो जीवन्मुक्त का शरीर सदा के लिए शांत हो जाता है। अतः जीवन्मुक्त देह-विनाश की प्रतीक्षा करता है जैसे अंतिम गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के पूर्व कोई पथिक विश्राम करता है। परन्तु प्रज्ञान पुरुष के बाद भी विकासक्रम चलता रहता है।

यह क्रम अज्ञान से ज्ञान की ओर उन्मुख है। अतिमानस के शुद्ध ज्ञान प्राप्त के बाद भी यह क्रम चलता ही रहेगा। अतः प्रज्ञान पुरुषों के लिये विश्राम का प्रश्न ही नहीं। प्रज्ञान पुरुष ब्रह्मानन्द का रसास्वादन सर्वदा करता रहता है। वह अपने में तथा सम्पूर्णप्रकृति में ब्रह्मानन्द की लहर का दर्शन करता रहता है। अतः उसके कर्तव्य का अंत नहीं होता। प्रज्ञान पुरुषों को विश्राम कहाँ।

(ड). जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति की पूर्वावस्था है। विदेहमुक्ति देह का सर्वदा तथा सर्वथा विनाश है। इसे व्यक्तित्व का पर्यवसान मानते हैं। परन्तु प्रज्ञान पुरुष का व्यक्तित्व बना रहता है। उसका व्यक्तित्व अस्थाई नहीं। वह चेतना के उच्च स्तर को प्राप्त कर भी व्यक्ति ही बना रहता है। उसका व्यक्तित्व विश्वव्यापी अवश्य है, वह शरीर, प्राण, मन के साथ व्यक्ति बना ही रहता है। मर्त्य शरीर से भी अमरत्व का रसास्वादन करता रहता है।

अन्त में, श्री हरिदास चौधरी ने ठीक ही कहा है कि प्रज्ञान पुरुष जीवन्मुक्त से अधिक व्यापक है। प्रज्ञान पुरुष के अतिव्यक्तित्व में जीवन्मुक्त का व्यक्तित्व समाहित हो सकता है, परन्तु जीवन्मुक्त में प्रज्ञान पुरुष का नहीं। सर्वमुक्ति व्यक्तिगत मुक्ति से श्रेयस्कर है। प्रज्ञान पुरुष का जीवन ही यथार्थ में दिव्य जीवन है।

मानव भविष्य दिव्य जीवन

महर्षि अरविन्द के दर्शन में मानव भविष्य का नाम दिव्य जीवन है और दिव्य जीवन धरती पर मनुष्य-देव की कल्पना है। श्री अरविन्द मानव के सुनहले भविष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसमें आज का ससीम और सांत मानव असीम और अनन्त रूप प्राप्त कर धरती पर देव-दुर्लभ और अनत स्वरूप प्राप्त कर दिव्य आध्यात्मिक जीवन यापन करेगा। आज का मानव असन्तोष, अशुभ और अधंकार से व्यग्र ही संतोष, शुभ और प्रकाश का जीवन चाहता है। परन्तु वह अपूर्ण और ससीम है। इसी कारण वह दुःख भोगता है, गति में अवरोध का अनुभव करता है। उसे पूर्ण और असीम होकर ही शान्ति मिलेगी। पूर्णता को प्राप्त करना ही इसका भविष्य है। यही मानव की अभीप्सा या आंतरिक कामना है। वह वर्तमान असन्तोष और अशुभ को भविष्य के सन्तोष और शुभ में परिवर्तित करने की प्रबल इच्छा करता है।

महर्षि अरविन्द निराशावादी नहीं वरन् आशावादी दार्शनिक हैं। उसके अनुसार मानव अनवरत दुःख झेलता आया है। परन्तु सुख के लिये सतत् संघर्ष भी करता रहा है। उसके इस सतत् संघर्ष के मूल में दिव्य जीवन की अभीप्सा है। विकास के विभिन्न चरणों-भौतिक-जैविक और मानसिक स्तरों को पार कर उसे आगे की यात्रा तय करती है। मानव

बुद्धि (मनस्) स्तर तक ही अभी आया है। उसकी चेतना में अभी अज्ञान का अंश है। उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त प्राप्त करना है, प्रज्ञान पुरुष होना है। प्रज्ञान की अवस्था अतिमानस का अवतरण है। इस अतिमानसिक रूपान्तरण में ही मानव चेतना विभु, विराट् चेतना का रूप लेगी। मानव की अपूर्णता तथा अज्ञान पूर्णतया ज्ञान रूप हो जायेगा। परन्तु इस पूर्णता तथा ज्ञान रूप हो जायेगी। परन्तु इस पूर्णता तथा ज्ञान प्राप्ति से मानव धरती का परित्याग नहीं करेगा, वह संसार में ही 'दिव्य-जीवन' यापन करेगा। वह मर्त्यलोक में ही अमृत प्राप्त करेगा। प्रश्न यह है कि यह स्थिति कब आयेगी, जब मानव समाज प्रज्ञान पुरुषों के रूप में परिवर्तित हो जायेगा? श्री अरविन्द का उत्तर है, कि जब प्रज्ञान पुरुष विकास को अतिमानस के भी ऊपर (सच्चिदानन्द की ओर) ले जायेंगे तो उनका जीवन ही दिव्य जीवन में परिवर्तित होगा, क्योंकि यह दिव्य में जीवन होगा। यहाँ से आध्यात्मिक दिव्य प्रकाश, शक्ति और आनन्द की सीमा के बाहर अर्थात् इसका वर्णन मानव बुद्धि के परे है। अतः अतिमानसीय, आध्यात्मिक, अतिमानवों का जीवन ही दिव्य जीवन कहा जा सकता है।¹

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि दिव्य जीवन सांसारिक जीवन ही है, परन्तु असांसारिक या आध्यात्मिक रूप में। हमारा सांसारिक जीवन आध्यात्मिक तब माना जा सकता है जब हमारी अपूर्ण चेतना पूर्णता को प्राप्त कर ले। हम मनस् स्तर पर मानव हैं, इस स्तर पर हमारी चेतना पूर्ण नहीं। इसी कारण हम अपने सुख-दुःख से सुखी-दुःखी का अनुभव करते हैं, क्योंकि इनमें व्यक्तिगत चेतना है, अहंकार है। इनके कारण हमें अपना अस्तित्व विश्व के पृथक् दिखलायी पड़ता है। हमारी अपूर्णता तथा पृथकता मनस् स्तर पर है अर्थात् जब तक हम मानव हैं। अतिमानस् के अवतरण से हमारी मानसिक चेतना अतिमानसिक रूप में परिवर्तित होगी जिसके कारण हमारी अपूर्णता तथा पृथकता समाप्त हो जायेगी। हमारा व्यक्तित्व समष्टि का रूप ले लेगा। यही सर्वात्मभाव है। इस सर्वात्म-भाव से सम्पन्न मानव असाधारण या अतिमानव होगा तथा उसकी जीवन-प्रणाली भी असाधारण या दिव्य होगी। इसे हम अपनी सीमित बुद्धि से नहीं समझ सकते। असीस तथा अनंत चेतना का बोध और वर्णन अतिमानस स्तर पर ही संभव है। परन्तु यह तभी संभव है जब हमारी चेतना का विकास हो। मनस् का अतिमानस् में रूपान्तर हो। श्री अरविन्द को यह पूर्ण

1. A Life of gnostic beings carry up the evolution to a higher supramental status might fully be characterised as a Divine Life for it would be a life in the Divine, a life of the beginning of a spiritual divine light and power and say manifested as material nature that might be described since it surpasses the mental human level as a life of spiritual and supramental supermanhood, Sri Aurobindo. The Life Divine, P. 945.

विश्वास है कि 'हमारा विकास पूर्णता की ओर उन्मुख है और पूर्णता की अभिव्यक्ति हमारे विकास के प्रारम्भिक या भविष्य के चरण में अवश्य होगी।'^१

इस प्रकार मानसिक मानव का अतिमानसिक मानवों में परिवर्तन ही 'दिव्य जीवन' होगा। इस स्थिति में मानव में न तो अज्ञान रहेगा और न अपूर्णता। अज्ञान और अपूर्णता के कारण ही मानव को आज अशुभ और असन्तोष का सामना करना पड़ता है। मानव में 'अहंभाव' है जिसके कारण वह अपना अस्तित्व पृथक् समझता है। परन्तु अन्य से पृथक् होकर केवल दुःख पाता है। हमें इस अहंभाव पर विजय प्राप्त करना होगा तथा अपने व्यक्तित्व को विश्व व्यक्तित्व के अंग रूप में रूपान्तरण करना होगा। यही व्यक्तित्व का सार्वभौम स्वरूप है। यही ससीम से अससीम होना है। सीमित होने के कारण ही हमारे सामने बाधाएँ आती हैं हमारी गति में अवरोध उत्पन्न होता है। इन बाधाओं को पार करना होगा, सीमा का अतिक्रमण करना होगा।

असीम और अनन्त अद्वैतरूप है। मानव को इसी अद्वैतरूप की अनुभूति आवश्यक है एक और अद्वैतरूप सच्चिदानन्द (ब्रह्म) है। इसी एकता की अनुभूति दिव्य जीवन है। सच्चिदानन्द अद्वैत परम सत्ता है। यही सार्वभौम और शाश्वत् सत्ता है। यह अत्यन्त व्यापक और विभुरूप है जो सभी व्यक्तियों में व्याप्त है तथा सभी व्यक्ति इसमें है। यही चेतना का विराट् रूप है जो सभी व्यक्तियों में है, अर्थात् यह सार्वभौम चेतना है। यही एक चित् शक्ति है जो सभी की शक्तियों का समन्वित रूप है, सबकी गति और अनुभूति का अधिष्ठान एक ही चेतन शक्ति है, सबकी आत्मा ही सर्वात्मा है, सबका आनन्द सर्वानन्द है अर्थात् सार्वभौम आनन्द ही अस्तित्व के सभी चरणों में अभिव्यक्त है।^१ यही सच्चिदानन्द का जीवन है।

अज्ञान और माया

महर्षि अरविन्द की तत्त्वमीमांसा को समझने के लिए उनके अज्ञान और माया को समझना अत्यवश्यक है। वे अज्ञान और माया की एक नयी अवधारणा हमारे सम्मुख

1. The fulness of life must be the goal of development towards which we are tending and which will manifest at an early or later stage of our destiny, Ibid, p. 947.

2. All beings is one and to be in the being of all. To be in the being of all and to include all in one's being, to be conscious of the consciousness of all, to be intergrated in force with the universal force, to carry all action and expereince as one self and feel it as one's own action and experience, to fell all delight of being as one's own delight of being is a necessary condition of integral divine living. Sri aurobindo The Divine Life, P. 907.

प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इस नयी अवधारणा को समझने के लिए इन दोनों की पुरानी या प्रचलित अवधारणा को समझना आवश्यक है। इसके आधार पर ही हम श्री अरविन्द की नयी अवधारणा की विशेषता से अवगत होंगे। इन दोनों की अवधारणा अति प्राचीन है और वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थों में सर्वत्र उपलब्ध भी होता है। वेदान्त का तो यह आधार-स्तम्भ ही समझा जाता है। दूसरे शब्दों में, अज्ञान और माया को समझे बिना हम वेदान्त के तत्त्व को समझ ही नहीं सकते। इस प्रकार हम अज्ञान और माया पर तीन स्तर पर विचार करेंगे प्रथम वेद, उपनिषद् स्तर, द्वितीय वेदान्त स्तर या तृतीय श्री अरविन्द के स्तर पर। इनमें प्रथम तो मौलिक स्तर है, अन्य दो व्याख्याओं स्तर है।

ऋग्वेद में ज्ञान चिति तथा को अचिति बतलाया गया है। चिति में सत्य और ऋतु दोनों हैं, अतः चिति ऋत-चित् अर्थात् सत्य चेतना है जिससे स्पष्टतः एक अनन्त, शाश्वत् सत्ता का बोध होता है जो अपने को अनेक रूप में अभिव्यक्त करती है। अज्ञान या अचिति ज्ञानाभाव नहीं, वरन् ज्ञान की ही विशेष दिशा में प्रक्रिया है। श्री अरविन्द इसी का समर्थन करते हैं। उपनिषद् में ज्ञान-अज्ञान को विद्या अविद्या रूप में कहा गया है। विद्या का विषय एक अद्वैतरूप परम चैतन्य है तथा अविद्या का विषय अनेक है जो परम चैतन्य से व्याप्त न हो। यह अनेकता या विविधता सांसारिक सत्य है। परन्तु उपनिषद् के अनुसार संसार निम्न कोटि का सत्य है। वेदान्त में अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान का सम्बन्ध पूर्ण ब्रह्म चैतन्य से है जो एकमात्र सत् है। अज्ञान तो असत् अध्यास का कारण है।

श्री अरविन्द अज्ञान को ज्ञान का नितान्त विरोधी, निश्चेतन रूप नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान का ही किसी विशेष दिशा में प्रक्रिया है। उनके अनुसार अज्ञान तो ज्ञान की किसी दिशा में किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गति है। यह तो चतन शक्ति है, निश्चेतन नहीं। श्री अरविन्द कहते हैं कि अज्ञान चित्शक्ति किसी विशेष दिशा में किसी प्रयोजन से किसी मार्ग पर चलने लगती है तो वह अज्ञान कहलाती है। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक गणितज्ञ गणित की समस्या को सुलझाने में पूरी तरह लीन हो जाता है। सब कुछ को भूलना ही उसकी आत्म-विस्मृति रूप है। उसका उद्देश्य समस्या को सुलझाना है। इसी उद्देश्य से यह किसी एक दिशा में पूर्णतः कार्यरत रहता है। आत्म-विस्मृति उसकी चेतना की ही एक अवस्था है, वह अचेतन नहीं वरन् पूरी चेतना को एक दिशा में लगा देता है। अतः आत्म विस्मृत होना उसकी आत्मलीनता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अज्ञान का अभाव नहीं वरन् ज्ञान की ही एक प्रक्रिया है। चेतना की ही एक क्रिया है। यह क्रिया सच्चिदानन्द के स्तर पर नहीं होती वरन्

मनस् स्तर पर होती है। मनस् चेतना के एक रूप तथा अनेक रूप के बीच एक आवरण उत्पन्न करता है। श्री अरविन्द के अनुसार मनस् चेतना की विभाजनकारी शक्ति है। अतः एक चेतना का अनेक में विभाजन इसी का कार्य है।

अज्ञान के रूप - श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान के सात प्रकार हैं। इनसे सात प्रकार के सत्ता के स्वरूप पर आवरण उत्पन्न हो गया है। इसीलिये इन्हें अनावरण करने के लिए सात प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है।

(क) **मौलिक अज्ञान** - यक परम तत्व सम्बन्धी अज्ञान है जो वस्तुतः एक हैं परन्तु अनेक रूपों में दिखलायी पड़ता है।

(ख) **विश्व व्यापी अज्ञान** - परम तत्व विश्वरूप तथा विश्वातीत दोनों हैं। इसका प्रथम रूप परिवर्तनशील है जो संसार में दिखलाई पड़ता है, परन्तु इसका वास्तविक रूप अक्षर है जो विश्वातीत है। अज्ञानवश मनुष्य विश्वरूप को ही विश्वातीत समझ लेता है।

(ग) **अहं रूप अज्ञान** - अज्ञान के कारण ही मनुष्य बाह्य वस्तुओं को अनात्म समझकर अपने से आत्मा से भिन्न मानता है। वस्तुतः सभी वस्तुएँ अभिन्न हैं, क्योंकि सबमें एक ही चैतन्य हैं।

(घ) **सामयिक अज्ञान** - मनुष्य किसी देश और काल की सीमा से बंधा है तथा इसे ही सनातन समझता है। वस्तुतः मानव का अस्तित्व शास्वत् है।

(ङ) **मनोवैज्ञानिक अज्ञान** - मनुष्य स्थूल शरीर और इन्द्रियों को चेतना मानता है। ये चेतना के बाह्य रूप हैं। आन्तरिक अधोचतन, अतिचेतन आदि के बारे में आज का मनोविज्ञान कुछ नहीं जानता।

(छ) **व्यवहारिक अज्ञान** - मनुष्य अपने व्यवहारिक जीवन में व्यस्त होकर, शाश्वत् जीवन के आनन्द को भूल गया है। इस भूल के कारण ही मनुष्य अपने को दिव्य ज्योति को अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं बना पाता। वस्तुतः यह व्यवहारिक जीवन पारमार्थिक ज्योति की अभिव्यक्ति के लिये हैं। हम इसे भूल जाते हैं।^१

1. As a result of all these ignorances, we miss the true knowledge government and enjoyment of our life in the world. we are ignorant in our thought, will sensations, actions return wrong or imperefect esponse at every point of the questioning of the world, wonder in maje of errors and desires strivings and failures pain pleasure sin and stumliling, follow a crooked road, grope blindly for a changing goal that is the seventh, the practical ignorance. Sri Aubobindo. The life Divine p. 584

2. डॉ० अभयचन्द्र भट्टाचार्य : श्री अरविन्द दर्शन पृ०, ७५

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं। यह चित् शक्ति की एक आंशिक तल्लीनता है। इसका आश्रय न तो सच्चिदानन्द है और न अतिमानस इसका आश्रय मनस है। इसकी उत्पत्ति जीव से नहीं होती वरन् चित्शक्ति की आत्मलीनता से होती है। इन दोनों बातों में श्री अरविन्द के विचार आचार्य शंकर से भिन्न हैं। आचार्य शंकर के अनुसार अज्ञान ज्ञान का अभाव है तथा इसका आश्रय जीव है। तीसरा बात यह है कि आचार्य के अनुसार अज्ञान से उत्पन्न यह जगत् नितान्त भ्रम है, असत् है। श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान जगत् सृष्टि की प्रक्रिया में उत्पन्न ब्रह्म चैतन्य का उद्देश्यमूलक आत्म विस्मृति है।¹ जगत् में ज्ञान और अज्ञान दोनों हैं। अतः जगत् की उत्पत्ति अज्ञान से ही सम्भव है। परन्तु जगत् असत् या भ्रम नहीं। जगत् तत्त्वतः सच्चिदानन्द के समान ही सत्य है।

माया

महर्षि अरविन्द के दर्शन में माया की अवधारणा उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी आचार्य शंकर के अद्वैतवेदान्त में। इसका इतना महत्त्व है कि दोनों में माया को समझे बिना दोनों के तत्त्व दर्शन को नहीं समझा जा सकता है। सृष्टि (संसार) और स्रष्टा (ईश्वर) पर दोनों दर्शनों में पर्याप्त विचार हैं। परन्तु सृष्टि और स्रष्टा दोनों की अवधारणा माया की अवधारणा के बिना स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः दोनों में माया के केन्द्रीय सिद्धान्त है। आचार्य शंकर में तो माया विचार इतना प्रमुख है कि कुछ लोग भ्रमवश उनको मायावादी कह देते हैं। श्री अरविन्द में दर्शन में भी इस पर यथेष्ट विचार है। परन्तु दोनों में कोई मायावादी नहीं, दोनों ही ब्रह्मवादी सच्चिदानन्दवादी हैं। दोनों ही वेद, उपनिषद् और गीता में वर्णित माया को ही अपना आधार मानते हैं, परन्तु दोनों के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार माया सच्चिदानन्द की लीला का क्रीड़ा है। इस लीला का उद्देश्य या क्रीड़ा का प्रयोजन केवल अनन्त सच्चिदानन्द का सान्त जगत् का रूप ले लेना है। रूप में सच्चिदानन्द एक से अनेक विश्वातीत से विश्वव्यापी, अपरिणामी से परिणामी और परिवर्तशील हो जाता है। परन्तु अविभक्त और असीम का विभक्त और ससीम होना केवल लीला है। इस लीला को इन्द्रजाल माना गया है, क्योंकि मानव की बुद्धि ससीम और सान्त है। जब मानव असीम और अनन्त को देखता है तो उसे समझ नहीं पाता। अतः लीला उसे इन्द्रजाल सा प्रतीत होने लगता है। मनुष्य के लिए वह लीला बड़ी विचित्र सी लगती है। वह उसे यथार्थ रूप में समझ नहीं पाता, क्योंकि अनन्त की क्रीड़ा सांत मानव के लिये केवल विचित्रता ही है। इस विचित्रता का कारण यह है कि सान्त मानव जब अपनी सीमित बुद्धि से सृष्टि का विश्लेषण करने लगता है तो उसे कई अपेक्षाओं पर विचार करना

पड़ता है। उदाहरणार्थ, सृष्टि पर विचार करते समय यह स्रष्टा, शक्ति और उपादान आदि की अपेक्षाओं पर विचार करता है। यदि कोई निर्माण कार्य है तो इसका निर्माता अवश्य होगा, किसी उपादान से निर्माण सम्भव है, आदि। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि तो अतिमानस की कृति हैं जिसमें अतिमानस ही सृष्टिकर्ता है, सृष्टि करने वाली उसकी चित् शक्ति है और सृष्टि का उपादान भी अतिमानस ही है। मनुष्य के लिए यह सचमुच इन्द्रजाल की प्रतीति है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सृष्टि सच्चिदानन्द की लीला का क्रीड़ा है। इस लीला के दो रूप हैं - निम्न तथा उच्च रूप। निम्न रूप में चेतना सीमित, विभाजित अंधकारमय दिखलायी देती है। शुद्ध चेतना का अंधकारमय दिखलायी देना केवल सच्चिदानन्द की क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में एक अद्वैतरूप चेतना अनेकरूप धारण करती है। यह चेतना का अवरोहण क्रम है। इस स्तर पर व्यक्ति अपनी सत्ता को पृथक् अनुभव करता है। परन्तु इस अंधकार भ्रम, विविधता का हमें त्याग नहीं करना है। हमें इसका अतिक्रमण करना चाहिए। यह मानसिक स्तर है। उच्च माया का सम्बन्ध अतिमानसिक स्तर है। यह आरोहण क्रम है। इस क्रम में व्यक्ति एक को अनेक में और अनेक को एक में देखता है। वस्तुतः चेतना एक है, परन्तु अनेक स्तरों में वह यहीं विभाजित होती है। एक ऐ अनेक होने का कार्य यहीं सम्पन्न होता है। श्री अरविन्द के अनुसार इस स्थिति को भी पार करने की आवश्यकता है। यह तो चेतना का विश्वव्यापी रूप है। विश्वातीत रूप इसके परे है। अतः व्यक्तियों को अमानस के परे भी चेतना का देखना है।

श्री अरविन्द के अनुसार लीला का निम्न और उच्च रूप ही माया का निम्न और उच्च रूप दोनों हैं। इसे ही प्रकृति का परा और अपरा रूप भी कहा गया है। अपरा प्रकृति विश्वव्यापी है तथा परा प्रकृति विश्वातीत है। पहली चेतना की सीमित तथा सान्त अवस्था है तो दूसरी चेतना का एक रूप इसके परे भी है। श्री अरविन्द के अनुसार सर्वप्रथम हमें चेतना के विविध रूप अथवा विश्वव्यापी रूप को देखना चाहिये। तत्पश्चात् चेतना का एक रूप, विश्वातीत रूप देखना चाहिये। अपरा माया का मूल स्रोत अतिमानस है। परन्तु इसका भी स्रोत परा माया है। परन्तु बुद्धि की सीमा अतिमानस तक ही समाप्त होती है। अतिमानस से हम केवल अपरा माया की व्याख्या कर सकते हैं, परा माया इसके परे है।

श्री अरविन्द के अनुसार आचार्य शंकर का माया क्षेत्र अतिमानस ही है। अतः आचार्य शंकर माया की बौद्धिक व्याख्या करना चाहते हैं। परन्तु इसकी व्याख्या करने में सफल न होने के कारण वे माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। वे अपरा माया के मूल स्रोत

परा माया पर विचार नहीं करते। उच्च और निम्न माया में भेद करने का सबसे बड़ा परिणाम यह है कि श्री अरविन्द जगत् को मिथ्या नहीं मानते हैं। जागत् अपरा प्रकृति की देन है और अपरा का मूल स्थान परा हैं। यदि परा असत् नहीं तो अपरा भी असत् नहीं और अपरा असत् नहीं तो संसार भी असत् नहीं। जगत् सीमित है, सान्त है परन्तु इसका मूल स्रोत असीम और अनन्त हैं। अतः यह असत् नहीं। इसी प्रकार बौद्ध विज्ञानवादी दार्शनिक संसार को मनोमय मानते हैं। वस्तु की सत्ता तो विज्ञान या विचार रूप है। श्री अरविन्द के अनुसार यह चेतना का मानसिक स्तर है। इस स्तर पर हमें विविधता दिखलायी पड़ती है, जिसका अस्तित्व नहीं है। श्री अरविन्द इस विविधता को स्वीकार करते हैं, परन्तु इसे असत् नहीं मानते। इस मानसिक स्तर के ऊपर अतिमानसिक स्तर है जो विविधता में एकता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह अपरा प्रकृति है, निम्न माया है।

संक्षेप में माया सच्चिदानन्द की लीला या क्रीड़ा है। हम जानते हैं कि श्री अरविन्द सच्चिदानन्द ही परम तत्त्व है। परमतत्त्व सत् है, चित् शक्ति है और आनन्द है। इस के विश्लेषण से पता चलता है कि सच्चिदानन्द अक्षर, अध्यय रूप है। इसकी सत्ता नित्य और शाश्वत् अनित्य और परिवर्तनशील में परिवर्तित हो जाता है। जो एक है वह अनेक हो जाता है। यही माया का कार्य है। श्री अरविन्द की विशेषता यह है कि ये परम तत्त्व को केवल एक और नित्य रूप ही नहीं मानते वरन् इस परम सत्ता को संसार की अनेक तथा अनित्य सत्ता में परिवर्तन भी स्वीकार करते हैं साथ ही अनेक तथा अनित्य को मिथ्या नहीं मानते। संसार सच्चिदानन्द की सृष्टि है। यह सत् है जैसे सच्चिदानन्द। इसे सच्चिदानन्द की लीला या क्रीड़ा कहा गया है। एक की क्रीड़ा के कारण ही अनेक होता है, परन्तु यह असत् नहीं। श्री अरविन्द के अनुसार वेद में वर्णित माया का यही रूप है।

आचार्य शंकर और अरविन्द की माया

दोनों ने माया की विस्तृत व्याख्या की है, परन्तु दोनों में भेद हैं -

(क) आचार्य शंकर के अनुसार माया और अविद्या समानार्थक है। परन्तु उनके अनुसार अविद्या अभावात्क है, विद्या का अभाव है। माया तो जगत्कर्त्री शक्ति है। माया भावात्मक है, क्योंकि जगत् को उत्पन्न करती है। यदि एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक तो दोनों समानार्थक कैसे? श्री अरविन्द के अनुसार अविद्या ब्रह्म चैतन्य की सप्रयोजन आत्म विस्मृति है, यह विद्या का अभाव नहीं। माया परम तत्त्व सच्चिदानन्द की लीला या क्रीड़ा है।

(ख) आचार्य शंकर के अनुसार माया की शक्तियाँ हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण के द्वारा ब्रह्म का शुद्ध प्रकाश स्वरूप छिप जाता है तथा विक्षेप द्वारा माया ब्रह्म के

स्वरूप को संसार रूप में प्रकट कर देती है, जैसे रज्जु का स्वरूप छिपकर सर्प रूप में प्रकट हो जाता है। परन्तु रज्जु का सर्प रूप में प्रतीति मिथ्या है। ब्रह्मा का संसार रूप में परिवर्तन मिथ्या है। श्री अरविन्द के अनुसार माया सच्चिदानन्द की लीला है। सच्चिदानन्द अतिमानस स्तर पर यह क्रीड़ा करता है। इस क्रीड़ा में एक चेतन अनेक रूपों में विभक्त हो जाता। परन्तु यह विभक्त होना असत् प्रतीत नहीं।

(ग) आचार्य मंकर के अनुसार संसार की सृष्टि आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के कारण होती हैं। नामरूपात्मक जगत् माया की विक्षेप शक्ति की देन है। यदि यह शक्ति है तो वास्तविक है। इसे मिथ्या नहीं माना जा सकता। माया ब्रह्म के ऊपर जगत् को आरोपित करती है। यह आरोप मिथ्या है जैसे रज्जु का सर्प रूप प्रतीति। श्री अरविन्द का कहना है कि सर्प सत् है तभी तो वह आरोपित होता है। इसे असत् नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि जगत् को ब्रह्म पर आरोपित किया जाता है तो जगत् सत् है। हो सकता है कि जगत् पूर्णतः सत् नहीं, परन्तु यह नितांत भ्रम भी नहीं है। श्री अरविन्द का कहना है कि हमें एक ऐसी सत्ता को अवश्य स्वीकार करना होगा जिसका सम्बन्ध जगत् से है। यह सत्ता परम तत्त्व सच्चिदानन्द है जिसकी क्रीड़ा जगत् है। जगत् असत् नहीं।

(घ) आचार्य शंकर के अनुसार सत् अबाधित है अर्थात् इसका कभी बाध नहीं होता। स्वप्नावस्था का जाग्रतावस्था में बाध होता है। जब हम सोकर उठते हैं तो स्वप्न में देखी वस्तुएँ असत् हो जाती हैं। इसी प्रकार जाग्रतावस्था का भी इसके ऊपर उठने पर बाध हो जाता है। श्री अरविन्द का कहना है कि स्वप्न का सत्य जाग्रत सत्य से भिन्न है। स्वप्न का आधार भी जाग्रत अवस्था का अनुभव है। हम जिन वस्तुओं को स्वप्न में देखते हैं उनका जाग्रत अवस्था में अनुभव करते हैं। अतः स्वप्न की वस्तुओं को पूर्णतः असत् नहीं मान सकते। आधुनिक मनोविज्ञान तो व्यक्ति के स्वप्न को व्यक्तित्व के मूल्यांकन में एक प्रबल तत्त्व भी स्वीकार करता है। अतः स्वप्न असत्य नहीं।

(ङ). आचार्य शंकर निर्गुण और निरूपाधिक ब्रह्म को ही सत् मानते हैं तथा उपाधि को असत् मानते हैं। आकाश नित्य विभु द्रव्य है, सत् है। परन्तु घटाकाश आकाश की उपाधि है जो असत् है। श्री अरविन्द का कहना है कि घट अनन्त आकाश को सीमित तो करता ही है, इसका अपना अस्तित्व है। यदि इसका अस्तित्व नहीं होता तो यह सीमित कैसे करता? जिसका अस्तित्व कार्य है, उसे असत् कैसे माना जाय?

(च). आचार्य शंकर जगत् के नितांत असत् नहीं मानते। जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत्य है तथा जगत्

का कर्ता ईश्वर भी सत्य है। जब सृष्टि तो सृष्टिकर्ता भी भी सत्य है। जब तक माया है, माया की सृष्टि (संसार) सत्य है और मायोपाधिक सृष्टिकर्ता (ईश्वर) भी सत्य है। परन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि यह ईश्वर केवल नाममात्र का है जो नाम रूपात्मक संसार का सृष्टिकर्ता है। ईश्वर सभी शक्तियों से रहित है।

(छ). आचार्य शंकर माया को अनिर्वचनीय मानते हैं। इसे भावरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। इसे अभावरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। जब तक हम संसार के ऊपर नहीं उठते, संसार सत्य है। जो न भावरूप है और न अभाव-रूप। वह वचन-विन्यास के परे अनिर्वचनीय है। श्री अरविन्द का कहना है कि यह तो सृष्टि को बुद्धि से ग्रहण करने तथा तर्क से अभिव्यक्त करने का परिणाम है। सृष्टि का रहस्य बुद्धि की सीमाओं के परे है। अतः बौद्धिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन सम्भव नहीं।

(ज). आचार्य शंकर माया को अज्ञान रूप भी मानते हैं तथा इसका कार्य अध्यास बतलाते हैं। यदि जगत अज्ञान है तो परमेश्वर ही सृष्टि कैसे हो सकती है? यदि संसार अध्यास या भ्रम है तो यह निरर्थक और निष्प्रयोजन है। श्री अरविन्द का कहना है कि जगत में प्रयोजन है- सत्ता का आत्मविस्तार और आत्म संकोच। जड़ से चेतन तक सब में चेतना की अभिव्यक्ति है। इसे निष्प्रयोजन नहीं माना जा सकता।

पूर्ण या सर्वांगीण योग

महर्षि अरविन्द इस युग में महान योगी माने जाते हैं। उनके योग का नाम पूर्ण या सर्वांगीण योग है। महर्षि ने स्वयं योग पर प्रामाणिक ग्रंथ लिखा है जिसका नाम स्वयं उन्होंने 'सिन्धेसिस आफ योग' या योग समन्वय दिया है। उनके स्वयं दिये हुए नाम से पता चलता है कि योग सम्बन्धी विभिन्न परम्पराओं से सुपरिचित हैं, परन्तु किसी से पूर्णतः सहमत नहीं। उनकी दृष्टि में योग सम्बन्धी अनेक सिद्धांत इन देश में प्रचलित हैं, सभी में गुण भी हैं। परन्तु अन्य सिद्धांत एकांगी है, अतः अपूर्ण है। इसीलिये वे सर्वांगीण योग का प्रतिपादन करते हैं जो पूर्ण है। स्पष्ट है कि परम्परागत योग सिद्धांतों को न तो पूर्णतः ग्रहण करते हैं और न परित्याग। वे उनके गुणों को ग्रहण कर सबका समन्वय करते हैं तथ उनके एकांगी और अपूर्ण दृष्टिकोण को सर्वांगीण तथा पूर्ण बनाते हैं। यह कथन सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि परम्पराओं के आधार पर ही एक नयी परम्परा को जन्म देते हैं जिसमें नवीनता है।

योग शब्द युज् धातु से बनता है जिसका अर्थ मिलना या 'सम्बन्ध' है। इसी अर्थ में आत्मा-परमात्मा, जीव-शिव, भक्त-भगवान का मिलन या सम्बन्ध योग कहलाता है।

उदाहरणार्थ, शरीर और प्राण को केन्द्र मानकर ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। भगवद्गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म के द्वारा भक्त का भगवान से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः योग को सम्बन्धवाचक बतलाते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि 'योग का अर्थ मिलन या सम्बन्ध है। यह मिलन जीव का पारलौकिक परमात्मा से हो सकता है, आत्मा का विश्वात्मा से हो सकता है अथवा आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप से सम्बन्ध हो सकता है अथवा तीनों प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है।¹ परन्तु इन सभी में योग सम्बन्ध वाचक ही है।

सम्बन्धवाचक होने के कारण योग को सोपान या साधन भी माना गया है। तात्पर्य यह है कि वह साधन या सोपान है जिससे जीव-शिव का सम्बन्ध प्राप्त हो सकता है। साध्य ईश्वर से सम्बन्ध है, योग इसका साधन है।

महर्षि अरविन्द भी योग को साधन ही स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में योग का साधन मोक्ष है। जीव-शिव सम्बन्ध का फल जीव का मोक्ष होना ही है। यह जन्म-मरण के अनवरत चक्र का विनाश है। जब आत्मा-परमात्मा का मिलन हो जाता है तो आत्मा को पुनः शरीरधारी नहीं होना पड़ता, अर्थात् पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है। परन्तु यह व्यक्ति का मोक्ष है। व्यक्ति का शरीर से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। परन्तु अन्य व्यक्तियों का शरीर से सम्बन्ध बना रहता है। श्री अरविन्द इसे 'एक मुक्ति' का सिद्धांत मानते हैं। परन्तु वे 'सर्वमुक्ति' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। एक व्यक्ति का मोक्ष तो सर्वमुक्ति का एक अंग हो सकता है, परन्तु स्वयं साध्य नहीं। साध्य तो सबका मोक्ष है। इस सर्वमुक्ति में योग सहायक हैं, सोपान है, साधन है। अतः योग साधन रूप में ही स्वीकार करने योग्य है।

श्री अरविन्द विकासवादी हैं। उनके अनुसार चेतना का विकास हो रहा है। चेतना भौतिक, जैविक स्तरों को पार कर मानसिक स्तर तक पहुँची है। यही हमारे मानव का चेतना स्तर है। परन्तु यह पूर्ण स्तर नहीं। इसका अतिमानस रूप में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इसके बाद भी चेतना का विकास होगा। परन्तु अतिमानस स्तर पर चेतना व्यक्ति के मनस् स्तर को पार कर समष्टिगत चेतना का रूप ले लेगी अर्थात् व्यक्ति की आत्मा सर्वात्मा रूप धारण कर लेगी। सवात्मा के लिये सर्वमुक्ति ही साध्य हो सकता है। अतः योग

1. Yoga means union with the Divine, a union either transcendental (above the universe) or cosmic (universal) or individual or as in our Yoga, all three together.

- Sri Aurobindo, Light on yoga p. 16.

सर्वमुक्ति का सोपान या साधन है। प्रश्न यह है कि एक आत्म का सर्वात्म होना कैसे सम्भव है? महर्षि अरविन्द के अनुसार चेतना विकासोन्मुख है। इसका विकास त्रिरूपात्मक है अर्थात् इसके तीन रूप हैं- प्रसारण, उन्नयन और एकीकरण। इनमें प्रसारण चेतना का एक स्तर में दूसरे स्तर में प्रस्फुटन है। जड़ चेतना प्रस्फुटित होकर जीव रूप में विकसित होती है। उन्नयन चेतना का उच्च स्तरों की ओर उत्थान है जैसे जड़ चेतना का जीव रूप में। एकीकरण निम्न स्तर की चेतना का उच्च स्तर के साथ एक हो जाना है, जैसे निम्न स्तर की चेतना का उच्च स्तर के साथ हो जाना है, जैसे निम्न तथा उच्च स्तर की चेतना का ऐक्य भाव हो जाना। यही चेतना का सर्वांगीण विकास है। इस सर्वांगीण विकास का सोपान या सहायक सर्वांगीण योग है। यह व्यक्ति की चेतना का प्रस्फुटन, प्रसारण और एकीकरण रूप है।

विकास के इस त्रयात्मक स्वरूप के साथ ही विकास उभयमुखी-आरोहण और अवतरण रूप है। श्री अरविन्द इसके साधन योग को भी आरोहण-अवतरण रूप मानते हैं। हम जानते हैं कि चेतना का भौतिक, जैविक मानसिक रूपों में आरोहण है, परन्तु अतिमानस का यह अवतरण भी है। अतिमानस की चेतनाशक्ति ही मानसिक, जैविक और भौतिक स्तरों में आकर मानव शरीर को आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित करती है। अतिमानस का अवतरण ही धरती पर दिव्य जीवन है। इसीलिए श्री अरविन्द बतलाते हैं कि हमारे अवतरण ही स्वरूप भी आरोहण-अवतरण रूप है। इससे धरती पर मानव को दिव्य जीवन मिलेगा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आत्मा का सर्वात्मरूप होना ही योग का लक्ष्य वे बतलाते हैं। यह न तो व्यक्ति के जीवन को समाप्त करना है और न विश्व को समाप्त करना है। इसका लक्ष्य तो व्यक्ति को विश्वरूप बना देना है। यही सर्वात्म भाव है। यह जीवन का विनाश नहीं जीवन का रूपांतरण है, मनस का अतिमनस् में रूपान्तरण है। इसके अनुसार भौतिक जगत् की उपेक्षा की आवश्यकता नहीं। शरीर में आध्यात्मिक परिवर्तन करना है, शारीरिक दुःख को दिव्य आनन्द में परिवर्तन करना है। यह परिवर्तन त्रयात्मक है अर्थात् इसके तीन रूप हैं-

1. Our Yoga is a double movement of ascent and descent. One rises to higher and higher level of consciousness but at the same time one brings down their power not only into mind and life but in the end even into the body. And the highest of these levels, the one which it aims, is supermind. Only when that can be brought down is a divine transformation possible in the earth consciousness. Sri Aurobindo. The Riddle of the world pp. 2-3.

(क). **चैतन्य रूपान्तरण-** हमारे व्यक्तित्व का ब्राह्म स्वरूप शरीर है और इसका आंतरिक स्वरूप 'चैत्य' है। इस चैत्य पुरुष के आलोक में हमें शरीर को आलोकित करना चाहिये।

(ख). **आध्यात्मिक रूपान्तरण-** यह चैत्य पुरुष का आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होना है, उच्चतर ज्ञान, शक्ति, प्रकाश आनन्द प्राप्त करना है।

(ग). **अतिमानसिक रूपान्तरण-** यह मन का अतिमनस् में परिवर्तन है। यह शुद्ध ज्ञान तथा ऐकता बोध का स्तर है। मनस् और अतिमनस् के बीच उच्चतर मनस्, प्रदीप्त मनस्, अन्तर्दृष्टि अधिमानस आदि सभी अवस्थाओं को पार करना है।

अन्त में, एक आवश्यक प्रश्न यह है कि श्री अरविन्द के योग में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि में किसकी प्रधानता है? हम कह सकते हैं कि श्री अरविन्द ने गीता के कर्मयोग का अनुशरण किया है। भगवान् ने कर्मयोग के द्वारा कर्म का त्याग नहीं बतलाया है, वरन् कर्म में कामना का त्याग बतलाया है। मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिये, परंतु कामना रहित होकर। यही निष्काम कर्म का सम्पादन है। निष्काम कर्म करने वाला ही कर्म के सच्चे आदर्श को जानता है, सच्चा कर्मयोगी है। कर्मयोगी कर्म को ईश्वर के प्रति पूजा समझता है। भगवान् का यह आदेश है- 'मामनुस्मरयुद्धयच' अर्थात् मुझे स्मरण करते हुए युद्ध करो। श्री अरविन्द के योग में यह ईश्वर की वाणी प्रेरणा है। वे भी लोकहित के लिये अहं भाव से रहित कर्म को आदर्श मानते हैं। यह कर्म का त्याग नहीं वरन्, कर्म-फल का त्याग है। कर्म-फल का त्याग करने वाले कर्मयोगी कर्म को ईश्वर का आदेश समझकर पालन करना है। अहंकार से रहित होकर वह समझता है कि कर्म प्रभु की प्रेरणा से कर रहा है। इसी दृष्टि से गीता में अर्जुन ज्ञान होने के पश्चात् अपने को निमित्त मानकर युद्ध करने लगे- यथा निर्युक्तो स्मि तथ करोमि। तात्पर्य यह है कि कर्म करने वाले तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, केवल अर्जुन के माध्यम से युद्ध - कर्म हो रहा है।

श्री अरविन्द की विशेषता है कि उनके कर्म-योग में भक्ति और ज्ञान का भी समन्वय है। अहंकार-रहित हो, ईश्वर का आदेश मानकर कर्म वही कर सकता है जिसे ईश्वर में पूर्ण आस्था हो तथा जो ईश्वर के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर सकता हो। भक्त कण-कण में अपने भगवान् का दर्शन करता है। इसी आस्था के कारण ही वह कर्म को ईश्वर का आदेश समझता है। साथ ही, वह ईश्वर के आगे अपने को तुच्छ समझकर ईश्वर के आगे पूर्ण समर्पण करता है। इस आत्म-समर्पण से प्रसन्न हो ईश्वर अपने भक्तों की पूर्ण रक्षा करते हैं। श्री अरविन्द योग के लिये आत्मा-समर्पण का महत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार

सर्वप्रथम योगी को 'माँ' के सम्मुख पूर्णतः आत्म-समर्पण करना चाहिये। यह आत्म-समर्पण भक्तियोग का सार तत्त्व है। इसी प्रकार कर्मयोग ज्ञान योग को भी आत्मसात् करता है। ज्ञान योग के प्रकाश से अज्ञान के अंधकार का पूर्णतः निवारण है। इस अंधकार के हटते ही ज्ञानी अपने स्वरूप को पहचान जाता है। इसी का महत्व स्वीकार करते हुए श्री अरविन्द मानते हैं कि चैत्य पुरुष की ज्वाला को अज्ञान के अंधकार से अनावृत करना आवश्यक है। जैसे-जैसे अज्ञान का अंधकार दूर होगा योगी शरीर, प्राण, मन से ऊपर उठकर उच्चतर मनस्, प्रदीप्त मनस् स्वानुभूति, अधिमानस के स्तरों को पार करता हुआ अतिमानस के द्वार तक पहुँचता है। यही अंतरात्मा का विकास है। विकास के प्रत्येक स्तर पर अज्ञान का निवारण है तथा परम सत्ता का प्रत्येक स्तर पर अनुभव है।

अन्त में, यह जानना आवश्यक है कि श्री अरविन्द के योग-साधन का मार्ग क्या है अर्थात् किस मार्ग में अनुसरण कर हमें धरती पर दिव्य जीवन की प्राप्ति हो सकती है? श्री अरविन्द के सर्वांगीण योग में स्वानुभव का बल है। इसका मार्ग कोई परम्परागत नहीं। इस योग में स्वानुभव को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। स्वयं श्री अरविन्द इस योग को एक आध्यात्मिक सोपान मानते हैं। व्यक्ति का अनुभव ज्यों-त्यों दृढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह उच्च से उच्च स्तर को प्राप्त होता चला जाता है। श्री अरविन्द ने स्वयं इस योग की साधना की थी तथा दूसरों को भी साधक होने की शिक्षा देते हैं। सच्चा साधक अहर्निश साधना करता है। इसके लिये किसी अन्य की आवश्यकता नहीं। अपनी साधना से स्वयं यागी शिखर पर चढ़ जाता है। उसे निजी अनुभव से ही अपने मार्ग को प्रशस्त करना है।



महात्मा गांधी और गांधीवाद

साधारणतः बाद कहने से तत्त्व और नीति सम्बन्धी समस्याओं का बोध होता है जैसे स्वभाववाद, सुखवाद आदि। परन्तु महात्मा गाँधी की विशेषता यह है कि उन्होंने लौकिक या पारलौकिक तत्त्वशास्त्र का प्रतिपादन नहीं किया और न किसी सांसारिक या आध्यात्मिक नैतिक सिद्धान्तों को ही जन्म दिया। परन्तु उनका जीवन-दर्शन गांधीवाद के नाम से सुप्रसिद्ध है। वस्तुतः गांधीवाद गांधी मार्ग है अथवा गाँधी-दृष्टिकोण है। महात्मा गाँधी ने जीवनयापन का एक मार्ग बतलाया है, जीने के लिए एक दृष्टिकोण दिया है जैसे गांधीवाद कहते हैं। स्पष्ट है कि गांधीवाद सिद्धान्तों का शुष्क सागर नहीं वरन् दैनिक दैनन्दिनी है। जिसका लक्ष्य व्यवहार को बनाना तथा दिन-चर्या को सही दिशा दिखलाना है। यथार्थ दिग्निर्देश के बिना पथभ्रष्ट हो जाना मानव के लिए स्वाभाविक है। अतः महात्मा गाँधी को मानवता का सच्चा पथ-प्रदर्शक कहना ही उचित होगा। उनका सम्पूर्ण दार्शनिक विचार तो जीवन-दर्शन है, अथवा जीवन-शैली है।

‘वाद’ सिद्धान्तसूचक है तथा सिद्धान्त सम्प्रदाय की देन है। महात्मा गाँधी सम्प्रदायवादी नहीं थे। वे सत्य के पुजारी थे तथा यह मानकर चलते थे कि असीम सत्य को किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा में बाँधकर ससीम नहीं बनाया जा सकता। अतः इस अर्थ में वे असम्प्रदायवादी अवश्य थे, परन्तु वे किसी सम्प्रदाय का विराधे भी नहीं करते थे, क्योंकि सभी सम्प्रदाय सार्वभौम सत्य के समान साधन हैं तथा सबका एक समान साध्य सत्य के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करना है। इस दृष्टि से कोई इसे गाँधीवाद कहेंगे नहीं, क्योंकि इसमें कोई वाद नहीं। केवल एक अवसर पर गाँधी जी ने कहा था गाँधी मर सकता है परन्तु गाँधवाद सदा जीवित रहेगा।^१ परन्तु इस कथन से गाँधी जी का तात्पर्य कोई वाद नहीं सत्य और अहिंसा था। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने बतलाया है कि गांधीवाद सिद्धान्तों, वादों, नियमों और आदर्शों का संग्रह नहीं वरन् जीवनयापन की एक शैली या जीवनदर्शन है। यह एक नयी दिशा की ओर संकेत करता है अथवा जीवन की अर्वाचीन समस्याओं के लिये प्राचीन समाधान प्रस्तुत करता है।^१ इससे स्पष्ट है कि गांधीवाद कोई नया दर्शन नहीं,

1. Gandhi may die but Gandhism may live forever.

- B.P. Sitramayya.

परन्तु नया मार्ग अवश्य है। इस मार्ग या जीवनदर्शन का ही नाम गाँधीवादी राजनैतिक दर्शन या गाँधीवादी राजनीतिक विचारधारा आदि है।

सम्प्रदाय को महात्मा गाँधी सत्य प्राप्ति का मार्ग या साधन ही मानते थे। इससे स्पष्ट है कि असम्प्रदायवादी होते हुये भी वे सम्प्रदाय विरोधी नहीं थे, क्योंकि वे सभी सम्प्रदायों को सत्यान्वेषण के मार्ग में सहायक स्वीकार करते थे।

महात्मा गाँधी सत्य को किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पत्ति नहीं मानते थे। अतः सत्य पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व भी नहीं स्वीकार करते थे। इसीलिये दार्शनिक दृष्टि से हम उन्हें सम्प्रदाय निर्माता नहीं मानते हैं।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि हम लोगों से गाँधी जी शायद ही किसी दार्शनिक तार्किक वाद-विवाद से सम्बद्ध थे। हमारा सम्बन्ध उनसे कार्य में था। हम लोग मिलकर कार्य करते थे। महात्मा गाँधी ने स्वयं कहा था कि गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैंने कोई नया सिद्धान्त नहीं चलाया है। केवल मैंने सच्चाइयों को अपने दैनिक जीवन और समस्याओं पर प्रयोग करने का प्रयास किया है।

गाँधीवाद के स्रोत

यह प्रायः सर्वमान्य है कि गाँधीवाद जीवन-शैली अथवा जीवन-यापन का एक नया मार्ग है। यह मार्ग मौलिक तो अवश्य है, क्योंकि यह महात्मा गाँधी की देन है। परन्तु गाँधीवाद नतो नितान्त नूतन मार्ग है और न ही अन्य मार्गों का अन्धानुकरण। निस्सन्देह गाँधीवाद अन्य विचारों से अछूता नहीं परन्तु निश्चित रूप से यह अन्य विचारकों को अनुकरण मात्र भी नहीं। गाँधीवाद एक विचित्र ढंग का सम्मिश्रण है जिससे प्राचीन और अर्वाचीन का समानुपातिक मिश्रण है। मूल रूप में गाँधीवाद के बीज सर्वत्र प्राप्त होते हैं, परन्तु वृक्ष रूप में तो यह अन्यत्र नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि गाँधीवाद कई स्रोतों का संगम है जिसमें कई विचारों के जल-प्रवाह विद्यमान हैं। हम इसी दृष्टि से गाँधीवाद का अध्ययन करेंगे। तात्पर्य यह है कि हम सर्वप्रथम गाँधीवाद के मूल स्रोतों को देखेंगे जिससे यह निश्चित होगा कि गाँधीवाद की आधार-शिलायें क्या हैं तथा कहाँ-कहाँ है। संक्षेप में, गाँधीवाद किन अन्य वादों से प्रभावित है। तत्पश्चात् हम यह निश्चित करेंगे कि गाँधीवाद की

1. Gandhism is thus not a sect of doctrine or dogmas, rules or regulations injunctions or inhibitions, but it is a way of life. It indicates a new attitude or restates an old one towards life's issues and offer ancient solution for modern problems.

B.P. Sitramayya, Gandhi and Gandhism, P. 35.

नवीनता क्या है। पहला बीजरूप तथा दूसरा वृक्षरूप अध्ययन है। इसके लिये हमें अन्य विचारों का गाँधीवाद पर प्रभाव अवश्य देखना होगा। अन्य विचार जिससे गाँधीवाद प्रभावित है हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं- स्वदेशी और विदेशी अथवा भारतीय तथा अन्य विचारकों का प्रभाव।

(क) स्वदेशी प्रभाव

वेद उपनिषद्, गीता का प्रभाव-गाँधीवाद उपनिषद् के निर्गुण और सगुण ब्रह्मवाद से स्पष्टतः प्रभावित है। महात्मा गाँधी निर्गुण और सगुण का समन्वय करते हैं। महात्मा गाँधी एक अद्वैत, अनन्त, रूप, ईश्वर को मानते हैं परन्तु इसे सगुण और साकार भी स्वीकार करते हैं। निर्गुण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने में गाँधी जी अद्वैत वेदान्त के निकट है, परन्तु सगुण, सृष्टिकर्ता को स्वीकार करने में वैष्णव वेदान्त के निकट है। वे ईश्वर को अनन्त तो मानते हैं, परन्तु उसे जगत् का कर्ता, धर्ता, हर्ता, भक्तवत्सल, उपास्यदेव भी स्वीकार करते हैं। यहाँ पर अद्वैत-वेदान्त और वैष्णव वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। भगवद्गीता को तो गाँधी जी विश्व-जननी कहते हैं जिसका द्वार सबके लिये खुला है। उनके अनुसार गीता के प्रत्येक श्लोक में किसी परिस्थिति का निदान है। उनका जीवनदर्शन तो गीता का ही दर्शन है। गाँधी जी ने गीता की कुछ घटनाओं और विचारों का नया अर्थ लगाया है। उदाहरण के लिए कुरुक्षेत्र का अर्थ शरीर है, क्योंकि पाप इसी से जन्म लेता है। यही धर्म-क्षेत्र भी है क्योंकि मोक्ष इसी से प्राप्त होता है। वे सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना ही परिवार समझने की हिन्दू धर्म की पवित्र शिक्षा को बार-बार दुहराते थे। जो सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना ही परिवार समझता है तथा सभी लोगों को अपना पारिवारिक सदस्य समझता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। वह सबसे प्रेम करता है। सबके प्रति दया, परोपकार और सौहार्द का व्यवहार करता है। यही गीता का समत्व दृष्टि से जिसे महात्मा गाँधी हिन्दू धर्म की मूल शिक्षा कहा करते थे। हिन्दू धर्म विश्व धर्म है जो समता की शिक्षा देता है। जिनकी दृष्टि में भेद और विषमता है वे हिन्दू नहीं हो सकते।

(ख) विदेशी प्रभाव

ईसाई धर्म-ग्रन्थ-महात्मा गाँधी के नैतिक दर्शन पर न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) सर्मन ऑन द माउन्ट (Sermon on the Mount) का प्रभाव है। अपने अहिंसा के प्रतिपादन में वे ईसा मसीह के इन वाक्यों से प्रभावित थे- प्रभु उन्हें क्षमा करें, क्योंकि वे नहीं जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं (Father forgive them for they know not what they do-Bible)

यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारें तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो। (If a man smite thee on one cheek, turn to him the other also)

अपने शत्रुओं को प्यार करो (Love you enemies) बहुआ देने वाले को दुआ दो (Bless shem that curse you) जो तुमसे घृणा करते हैं, उनके साथ अच्छा व्यवहार करो (Do good to them who hate you) जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हैं, उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करो (Pray for them, they despitefully use and perscute you)।

लाओत्से और कन्फ्यूसियस का प्रभाव

लाओत्से का कथन था कि जो मेरे प्रति अच्छे हैं, उनके प्रति मैं अच्छा हूँ, जो मेरे प्रति अच्छे नहीं हैं उनके प्रति भी मैं अच्छा हूँ। इस प्रकार सभी अच्छे हो जायेंगे। कन्फ्यूसियस का कहना था कि मनुष्य को दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा वे स्वयं अपने प्रति दूसरों से नहीं चाहते। इन विचारों को गाँधीजी ने अपनाया।

रस्कन और टालस्टाय का प्रभाव

रस्कन की पुस्तक अनटू द लास्ट से गाँधी ने शारीरिक श्रम का महत्व सीखा। टालस्टाय की पुस्तक 'ईश्वर का साम्राज्य अपने भीतर है' को पढ़कर गाँधीजी आस्तिक बने।

डेविड थूरो

डेविड थूरो से गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा की शिक्षा ली। इनके अतिरिक्त इस्लाम तथा थियसोफिस्ट विचारकों से भी महात्मा गाँधी प्रभावित हुए थे। इन सभी प्रभावों के कारण ही महात्मा गाँधी जी ने अपने जीवन की कहानी को 'सत्य पर हमारे प्रयोग' नाम दिया।

महात्मा गाँधी और धर्म

धर्म तो गाँधीवाद की आधारशिला है जिसे भली-भाँति समझे बिना गाँधीवाद की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। स्वयं महात्मा जी ने 'यंग इण्डिया' में कहा था मैंने अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही जो कुछ कहा और जी कुछ किया, उनके पीछे धार्मिक उद्देश्य रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि महात्मा गाँधी राजनैतिक सन्त थे। उनका स्वरूप तो राजनीतिज्ञ का था परन्तु हृदय सन्त का अर्थात् वे राजनीतिज्ञ का वेश अवश्य धारण किये थे परन्तु यथार्थ में धार्मिक थे। स्वयं अपनी कहानी को उन्होंने सत्य के प्रति प्रयोग कहा है। इस सत्यान्वेषण में ही उन्होंने अपना सारा जीवन व्यतीत किया। प्रश्न है कि धर्म से गाँधी जी क्या समझते थे?

महात्मा गाँधी ने स्वयं कहा है कि धर्म से मेरा तात्पर्य किसी परम्परागत धर्म से नहीं वरन् उस धर्म से है जो सभी धर्मों का मूल है और जो हमें स्रष्टा का साक्षात्कार कराता

है। पुनः उन्होंने कहा है कि “मैं धर्म से हिन्दू धर्म नहीं समझता, वरन् वह जो हिन्दूत्व की परिधि के परे हैं, जो मानव स्वभाव में परिवर्तन ला देता है जो मानव का सम्बन्ध सत्य से जोड़ता है तथा जो आत्मशुद्धि का साधन है। यह मानव स्वरूप का वह शाश्वत् पक्ष है जो तब तक अशान्त रहता है जब तक वह अपनी आत्मा को सत्य समझ ले तथा सत्य रूप ईश्वर के ज्ञान में अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त न कर ले। इसका विश्लेषण करने पर गाँधी जी के धर्म के लक्षण निम्न है-

(क). धर्म मानव के शाश्वत स्वरूप की अभिव्यक्ति है। मानव का शाश्वत स्वरूप सांसारिक नहीं वरन् पारमार्थिक देवत्व है। मनुष्य जीव नहीं शिवरूप है। धर्म इसी शिव तथा शुभ रूप को अभिव्यक्त करता है।

(ख). धर्म आत्मोत्थान का सोपान और आत्मशुद्धि का साधन है। आत्मशुद्धि से जीवात्मा को परमात्मा की विभूति प्राप्त होती है।

(ग). धर्म में स्वभाव-परिवर्तन की शक्ति है। धर्म मानव के भौतिक व्यक्तित्व को आध्यात्मिक बना देता है। व्यक्ति शारीरिक वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अशरीरी देव बन जाता है तथा दिव्य आनन्द को प्राप्त करता है।

(घ). धर्म में एक आन्तरिक अशान्ति या आध्यात्मिक प्यास की अनुभूति होती है। यह अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरत्व और असत् से सत् की दिशा में अग्रसर होने की अशान्ति है। धार्मिक व्यक्ति की प्यास तब तक नहीं बुझती जब तक वह अमृत रस का पान नहीं कर लेता।

(ङ). धर्म का अन्तिम लक्ष्य जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा का योग है। इसे ही ईश्वर प्राप्ति कहते हैं। ईश्वर प्राप्ति के लिये ईश्वराभिमुख होना तथा ईश्वर के आदेशों का पालन आवश्यक है। इसीलिये नैतिक आचरण, निष्ठा, श्रद्धा, सत्यानुशीलन आदि को धार्मिक आचरण कहते हैं। इस ईश्वरीय आदेशों के अनुसार आचरण करने वाला ही ईश्वर को प्राप्त करता है।

उपरोक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि महात्मा गाँधी से क्या समझते हैं। धर्म के सम्बन्ध में रूढ़िवादी या परम्परावादी नहीं थे। रूढ़िवादी तो धर्मान्धता है जिसे गाँधी जी धर्म का विरोधी समझते थे। उनके अनुसार रूढ़िवाद और परम्परा में जड़कर धर्म विकृत हो

1. By religion, I do not mean formal religion or customary religion, but the religion which under lies all religious which brings us face to face with our maker-Gandhi.
-Young India, 12.05.20.

जाता है तथा किसी विवेकसम्पन्न मानव के लिये अनुकरणीय नहीं रह जाता। उनके अनुसार रूढ़िवाद और परम्परा तो धर्म को साम्प्रदायिक बना देते हैं और सच्चे धर्म के मार्ग में सम्प्रदाय सबसे बड़ा शत्रु है। अतः गाँधी जी के धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता।

गाँधी जी की दृष्टि में धर्म सम्प्रदाय से मुक्त होकर ही विवेकपूर्ण मानव के लिये अनुकरणीय होता है। धार्मिक समुदाय में विश्वास की प्रधानता होती है, विवेक की नहीं। सम्प्रदाय की मान्यता को विश्वासपूर्वक स्वीकार करना व्यक्ति के लिये बाध्यता बन जाती है। गाँधी जी सम्प्रदाय की मान्यताओं की परीक्षा करने की शिक्षा देते हैं। यदि परीक्षा के उपरान्त मान्यता स्वीकार करने योग्य हो तभी धार्मिक व्यक्ति को उसमें विश्वास करना चाहिये क्योंकि मानव विवेकी है, अतः विवेक से परीक्षा कर ही उसे विश्वास करना चाहिये। अविवेकपूर्ण विश्वास तो धर्मान्धता है।

धर्म को विवेकमूलक मानने के कारण गाँधी जी धार्मिक परम्पराओं के स्थान पर धार्मिक मूल्यों को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके अनुसार धार्मिक मूल्य शाश्वत् है। अतः स्वीकार करने योग्य है। परम्परा और मान्यता आदि धर्म के बाह्य रूप हैं। शाश्वत् मूल्य आन्तरिक और यथार्थ हैं। गाँधी जी की मान्यता थी कि प्रत्येक धर्म में कुछ शाश्वत् मूल्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस धर्म के माध्यम से होती है। इन शाश्वत् मूल्यों को सम्प्रदाय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। ये मूल्य प्रायः सभी धर्मों में समान हैं। अतः सभी धर्म मूल्य की दृष्टि से मान्य हैं। उदाहरणार्थ, सत्य एक शाश्वत मूल्य है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न धर्मों में होती है। अतः विविध धर्म तो सनातन सत्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं।

धार्मिक मूल्य तो स्वतः प्रकाश होते हैं, इन्हें सम्प्रदाय आदि की अपेक्षा नहीं। अतः धर्म का आन्तरिक यथार्थ स्वरूप सम्प्रदाय निरपेक्ष है। उदाहरणार्थ, सत्य स्वतः सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। इसे किसी परम्परा, सम्प्रदाय या संघ ने सीमित करने की आवश्यकता नहीं।

शाश्वत् या सनातन मूल्यों के अतिरिक्त ईश्वर की अवधारणा धर्म में आवश्यक है। ईश्वर के बिना धर्म का जीवित रहना कठिन है। संसार के प्रायः जीवित धर्म ईश्वरवादी ही हैं। परन्तु महात्मा गाँधी का ईश्वर भी सत्य से अधिक मूल्यवान नहीं। इसी कारण वे सत्य को ही ईश्वर मानते थे। सत्य तो त्रिकालसत्य होता है अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों में इसकी सत्ता विद्यमान रहती है। इस त्रिकाल सत्य को आस्तिक-नास्तिक सभी स्वीकार करते हैं। ईश्वर को यदि हम व्यक्ति विशेष माने और उसे किसी सम्प्रदाय की विभूति माने

तो अन्य सम्प्रदाय वालों से विरोध होना स्वाभाविक है। परन्तु त्रिकालवर्ती सत्य को यदि ईश्वर माने तो किसी का विरोध नहीं। इस प्रकार सत्य की सत्ता निर्विरोध स्वीकार्य है- सत्य ही ईश्वर है। यदि सत्य ही ईश्वर है तो सत्य का श्रद्धापूर्वक पालन ही सच्चा धर्म है। सत्य ही श्रेष्ठतम मूल्य और सनातन धर्म है।

धर्म-मार्ग

यदि सत्य ही गाँधी जी का परम धर्म है तो सत्य का आचरण ही सर्वोत्तम धर्म-मार्ग है। मार्ग वही है जिससे लक्ष्य तक मनुष्य पहुँच जाय। दूसरे शब्दों में यह साधन है जिससे साध्य की प्राप्ति होती है। गाँधी जी के अनुसार साध्य या लक्ष्य तो सत्य है, यही सनातन धर्म है। इस साध्य की प्राप्ति का साधन भी सत्य का आचरण है। अतः साध्य और साधन दोनों सत्य ही हैं। क्या मानव और साध्य में अभेद है? पहला साधन या मार्ग रूप में सत्य का आचरण व्यवहार है, दूसरा साध्य या लक्ष्य रूप में सत्य को प्राप्तव्य की प्राप्ति मानते हैं। वे व्यवहार और परमार्थ में नितान्त विरोध नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार व्यवहार तो परमार्थ का सच्चा साधक है। हमें अपने व्यावहारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सत्य मार्ग का ही अनुकरण करना चाहिये, इसके निष्ठापूर्वक पालन से ही हमें पारमार्थिक सत्य (ईश्वर) का साक्षात्कार होगा। इसके आचरण से ही हम असत्य पर विजय प्राप्त कर सनातन सत्य (ईश्वर) को प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महात्मा गाँधी व्यावहारिक और सामाजिक सत्य को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना पारमार्थिक सत्य को। धरती का सत्य तो स्वर्ग के सत्य का सच्चा सोपान है। अतः हमें सामाजिक, सासारिक तथा राजनैतिक जीवन में सत्य का दृढ़ संकल्पपूर्वक पालन करना चाहिये। यही महात्मा गाँधी के शब्दों में 'सत्याग्रह' है। यह सत्य का संकल्पपूर्वक आग्रह है। यही महात्मा गाँधी का धर्म-मार्ग है।

हिन्दू धर्म के प्रति महात्मा गाँधी का दृष्टिकोण

इसमें सन्देह नहीं कि गाँधी जी एक सच्चे हिन्दू सन्त थे, महात्मा थे तथा वे अपने को सच्चा हिन्दू मानते हैं किसी हिचकिचाहट का अनुभव भी नहीं करते थे। परन्तु गाँधी जी एक असाधारण हिन्दू थे, क्योंकि उनका हिन्दू धर्म के प्रति दृष्टिकोण साधारण हिन्दू से भिन्न था। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनके हिन्दू-धर्म के प्रति दृष्टिकोण को समझे। यह आवश्यक इसलिये भी है कि गाँधी जी को परम्परागत हिन्दू धर्म का पोषक तथा सन्त होने के कारण महात्मा कहा जाता है तथा सभी धर्मों को समादर की सृष्टि से देखते रहने पर भी उन्हें हिन्दू-धर्म का पक्षपाती भी समझा जाता था। परन्तु इसके साथ ही कुछ पुराण-

पत्नी उन पर अहिन्दू का मिथ्या-आरोप भी लगाया करते थे। सर्वधर्म के प्रति समादर को कुछ लोग हिन्दू धर्म के प्रति अनादर भी समझते थे। हमें देखना है कि वे धर्म-सहिष्णुता होते हुए किस प्रकार के हिन्दू थे?

इस प्रश्न का उत्तर हम स्वयं गाँधी के शब्दों में सुनें। 'यंग इण्डिया' (६.१०.१९२१) में महात्मा गाँधी ने अपने मनोभावों को व्यक्त किया है परन्तु उनके मनोभावों को सही पढ़ लेना सरल नहीं। गाँधी जी के अनुसार हिन्दू-धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण बतलाना तो अपनी पत्नी के प्रति अपने मनोभावों को दूसरों को अवगत कराना है। वे मानते थे कि उनकी पत्नी के प्रति उनके मन में कुछ भाव थे जो दूसरी स्त्री के प्रति नहीं थे। वे अपनी पत्नी के व्यक्तित्व से पूर्णतः परिचित थे। उनके गुण और दोष दोनों को अच्छी तरह जानते थे। लेकिन इतना जानते हुए भी वे अपनी पत्नी से एक स्वाभाविक साहचर्य सम्बन्ध का अनुभव करते थे। साहचर्य सम्बन्ध की प्रगाढ़ता के कारण वे अपनी पत्नी के प्रति मनोभाव को शब्दबद्ध करने में असमर्थता का अनुभव करते थे। जिस प्रकार पत्नी के प्रति मनोभावों को व्यक्त करना कठिन-सा है, उसी प्रकार गाँधी जी के लिए हिन्दू-धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण को व्यक्त करना भी। इस व्यक्तिगत मनोभावों को सार्वजनिक बनाना कठिन है परन्तु इस कठिनाई का अर्थ यह नहीं कि उन्हें मनोभावों का समुचित ज्ञान नहीं, क्योंकि वे गुण और दोष दोनों से सुपरिचित थे। परन्तु साहचर्य प्रेम की प्रगाढ़ता के कारण गुण-दोष को विवेचना को व्यर्थ समझते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी जी सच्चे हिन्दू थे परन्तु हिन्दुत्व के गुण-दोषों से सुपरिचित थे। वे गुणों को ग्रहण करने और दोषों का परित्यग करने की शिक्षा दिया करते थे।

महात्मा गाँधी सच्चे हिन्दू तो अवश्य थे परन्तु हिन्दुत्व को सम्प्रदाय की सीमा तथा बाह्य आडम्बरों से मुक्त मानते थे। वे हिन्दू धर्म को 'विश्वधर्म' मानते थे। उनकी दृष्टि में सच्चा हिन्दू वह है जो प्राणिमात्र का कल्याण करने में संलग्न हो- सर्वभूतहिते रता:- गीता। इस लोक-कल्याण की भावना को गाँधी जी हिन्दूधर्म का सार समझते थे। हिन्दू धर्म ही हमें विश्वबन्धुत्व की शिक्षा देता है। वेद की वाणी है- सभी लोग सुखी हों, सभी निरामय हो, सभी शुभ की ओर देखें, कोई दुःख न प्राप्त करें।^१

गाँधी जी सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना परिवार (वसुधैव कुटुम्बकम्) समझने की हिन्दू धर्म की पवित्र शिक्षा को बारम्बार दुहराते थे। सबको अपना समझने वाला सबसे प्रेम

१. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥ उपनिषद्

करता है, किसी से घृणा नहीं करता। यह 'सौहार्द की भावना' समत्व दृष्टि से जो हिन्दू धर्म की मौलिक शिक्षा है। अतः जिसकी दृष्टि में भेदभाव या विषमता हो, वह हिन्दू नहीं। अतः गाँधी जी का हिन्दू धर्म तो विश्वधर्म है जिसका आधार जन-कल्याण है।

परन्तु महात्मा गांधी हिन्दू धर्म के दोषों से भी परिचित थे। वे अछूत की भावना तथा ऊँच-नीच की जाति भावना का सर्वदा विरोध करते थे। १९३२ में अंग्रेजों ने हिन्दू समाज को विघटित करने वाली भेद-नीति को प्रश्रय देना प्रारम्भ किया और वे हरिजनों को हिन्दू धर्म से अलग करने लगे। इसके विरुद्ध गाँधी जी ने यरवदा जेल में आमरण अनसन प्रारम्भ किया और लिखा- हरिजन आन्दोलन से बढ़कर बुरी चीज अन्य नहीं। किन्तु मैं धर्म को नहीं छोड़ सकता, अतः हिन्दुत्व को भी नहीं त्याग सकता। इसको मुझसे छीन लो, फिर मेरे पास कुछ न बचेगा। किन्तु तब भी मैं इसे छुआछूत और ऊँच-नीच के भेद-भाव सहित नहीं ग्रहण कर सकता।' गाँधी जी यहाँ तक कहा करते थे कि अछूत की भावना को स्वीकार करने वाला हिन्दू चाण्डाल है। अछूत भावना मानवता के लिए अभिशाप है। इसी प्रकार हिन्दूधर्म में बलि-प्रथा का वे विरोध करते थे। निरीह पशुओं की बलि देना तो सृष्टि के प्रति अपराध है।

अन्य धर्मों के प्रति गाँधी जी का दृष्टिकोण या धार्मिक सहिष्णुता

गाँधी जी हिन्दूधर्म को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते थे परन्तु अन्य धर्मों का भी सम्मान करते थे। उनका कहना था "मैं वेदों में, एक मात्र ईश्वर में विश्वास नहीं करता। मेरी यह धारणा है कि बाइबल, कुरान और जेन्दअवस्था में उतनी ही ईश्वर-प्रेरणा है जितनी वेदों में। इससे स्पष्ट होता है कि गाँधी जी सभी धर्मों को समादर की दृष्टि से देखते थे। उनका विश्वास था कि धर्म तो ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है अतः सभी मार्गों से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। सभी मार्ग ईश्वर प्रणीत मार्ग, सभी समान हैं।

एक आवश्यक प्रश्न है कि अन्य धर्मों के प्रति समादर का भाव कैसे उत्पन्न हो? धर्म में व्यक्ति की अटूट आस्था होती है। इसके कारण ही व्यक्ति अन्धविश्वासी बन जाता है। कोई भी धर्म सत्य का साधन है, वह ईर्ष्या और द्वेष नहीं सिखलाता। परन्तु जब हम अन्धे होकर धर्म के आन्तरिक मूल्यों को छोड़कर सम्प्रदाय की मान्यताओं को मानने लगते हैं तो हम विवेक खो देते हैं तथा धार्मिक उन्माद के शिकार बन जाते हैं तथा अन्य धर्मावलम्बियों से घृणा और द्वेष करने लगते हैं। अतः विवेक का सहारा लेकर हम इन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। विवेक हमें यह अवश्य बतायेगा कि सभी धर्म ईश्वरीय मार्ग हैं। सभी सत्य के समान साधन हैं। यही महात्मा गाँधी की धार्मिक सहिष्णुता है जिसका सरल अर्थ अन्य धर्मों को समानतः सहन करना है।

अपनी धार्मिक सहिष्णुता अथवा अन्य धर्मों के प्रति अपने दृष्टिकोण को गाँधी जी स्वतः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

१. सभी धर्म सत्य हैं,
२. सभी धर्मों में कुछ भ्रान्तियाँ हैं,
३. मुझे अन्य धर्म उतना ही प्रिय है जितना हिन्दू धर्म, जैसे अन्य व्यक्ति हमारे सम्बन्धी के समान ही मुझे प्रिय है। दूसरे धर्मों के प्रति भी मेरे मन में उतना ही सम्मान है जितना अपने धर्म के प्रति। अतः धर्म-परिवर्तन का विचार सम्भव नहीं... अतः हमें ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमें ऐसी शक्ति और प्रकाश दे कि हिन्दू श्रेष्ठतर हिन्दू बन बसे, मुसलमान श्रेष्ठतर मुसलमान बन सके तथा ईसाई श्रेष्ठतर ईसाई बन सके।^१

ईश्वर

महात्मा गाँधी की ईश्वर में अटूट आस्था थी। एक बार उन्होंने कहा था कि यदि संस्कार अनीश्वरवादी बने तो भी वे ईश्वर के एकमात्र साक्षी वर्तमान रहेंगे। उन्होंने कहा था मैं जल और वायु के बिना शायद रह सकता हूँ परन्तु ईश्वर के बिना नहीं। तुम मेरी आँखें निकाल सकते हो परन्तु उससे मैं नहीं मरूँगा। तुम मेरी नाक काट सकते हो परन्तु उससे भी मैं नहीं मरूँगा परन्तु ईश्वर पर मेरा विश्वास गया तो मैं मरा। इससे स्पष्ट है कि गाँधी जी पूर्णतः आस्तिक और ईश्वरवादी थे।

एक आवश्यक प्रश्न यह है कि गाँधी जी ईश्वर को निर्गुण, निराकार मानते थे या सगुण, सकार? उत्तर है गाँधी जी दोनों रूप मानते थे। उनकी जीवन-गाथा का अनुशीलन करने से लगता है कि पहले वे सगुण ईश्वर को मानते थे परन्तु बाद में निर्गुण के उपासक बने। गाँधी जी वैष्णव परिवार में जन्म लिये थे, अतः उनके विचारों पर वैष्णव धर्म का गहरा प्रभाव था। वैष्णव मान्यता के अनुसार ईश्वर सगुण है- वह ऐश्वर्य, धर्म यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से युक्त है। इन गुणों के अतिरिक्त, ईश्वर सृष्टि का कर्ता और स्वामी हैं। वह संसार को उत्पन्न करता है, पालन करता है और संहार करता है। सर्वशक्ति सम्पन्न होकर

1. After long study and experience I have come to the conclusion that (1) all religion are true, (2) all religions have some error in them. (3) all religions are almost as dear to me as my own Hinduism. inasmuch as all human being should be as dear to one as one's close relatives. My own veneration for other faiths is the same as that for my own faith, therefore no thought of conversion is possible. The aim of fellowship should be so help a Hindu to become a better Hindu. Mussalman to become a better Mussalman and a Christian a better Christian.

[D. M. Datta The Philosophy of M. Gandhi].

भी वह दया का धाम और करुणा का सागर है। वह दीन-दुखियों पर दया करता है तथा भक्तों को प्यार करता है। भक्तों की रक्षा के लिये और अधर्म का नाश करने के लिये वह धरती पर अवतार ग्रहण करता है। इन मान्यताओं को सभी वैष्णव मानते हैं। गाँधी जी ने ईश्वर के इस सगुण रूप को ही सर्वप्रथम स्वीकार किया है। अतः प्रारम्भ में वे निगुण रूप के उपासक नहीं थे।

गाँधी जी मानते थे कि निर्गुण रूप की उपासना ज्ञानगम्य है। अतः ज्ञानी ही इस रूप की उपासना करते हैं। यह रूप हमारी बुद्धि को अवश्य सन्तुष्ट करता है, परन्तु हृदय पर शासन करे तथा हृदय का परिवर्तन करे।^१ इस रूप में मनुष्य का ईश्वर से सम्पर्क सरल ढंग से स्थापित हो जाता है। वैष्णव भक्ति परम्परा से प्रभावित हो गाँधी जी भक्तवत्सल भगवान् को ही ईश्वर मानते थे। परन्तु बाद में गाँधी जी के ईश्वर सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन हुआ। उन्होंने यह स्वीकार किया कि ईश्वर का सगुण रूप व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का रूप है। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर किसी सम्प्रदाय का ईश्वर बन जाता है। जिसे उस सम्प्रदाय वाले अपना प्रतीक मानते हैं परन्तु दूसरे सम्प्रदाय वाले इससे विरोध करने लगते हैं। फलतः व्यक्तित्वपूर्ण विरोध और संघर्ष का कारण बन जाता है। इससे धार्मिक उन्माद बढ़ता है जिससे सामाजिक शान्ति भंग होती है। इस प्रकार सगुण और व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर वैमनस्य और विरोध का कारण बन जाता है। इससे बचने के लिये निर्गुण, निराकार ईश्वर को मानना आवश्यक है।

बाद में गाँधी जी ने ईश्वर को निर्गुण और निराकार स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं कहा- 'मैं' ईश्वर को व्यक्ति रूप नहीं मानता।^१ ईश्वर एक ऐसा अपरिवर्तनीय विधान है जिससे संसार का सब कुछ शासित है, चाहे वह वस्तु हो या व्यक्ति वह प्राकृतिक विधान जो सब का शासन करता है ईश्वर है। विधान और विधायक दो नहीं वरन् एक है।^२ इससे स्पष्ट है कि गाँधी जी निर्गुण और निराकार ईश्वर का समर्थक करते हैं। उन्होंने कहा है- ईश्वर एक रहस्यात्मक वर्णनातीत शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। मैं उसे देखता तो नहीं परन्तु उसका अनुभव करता हूँ। उसका अनुभव प्रेम और सत्य के द्वारा होता है, परन्तु ईश्वर सगुण नहीं।^३ गाँधी जी के अनुसार निर्गुण ईश्वर की विशेषताएँ हैं-

(क). ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी सत्ता है। संसार का कण-कण उसी में व्याप्त है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है, परन्तु उसका कोई अपना शरीर नहीं

1. He is no God who merely satisfies the intellect. If he ever does. God to be must rule the earth and tranfor it' Young India 11. 10. 21.

2. I do not regard God as person.

किसी शरीर तक ईश्वर को सीमित करना तो उसके अनन्त, विभूध्यापक रूप का निषेध है। वह शरीर रहित होकर भी सर्वज्ञ है, सबको देखता है, जानता है।

(ख). ईश्वर एक अदृश्य और अगोचर शक्ति है। इसके नाम असंख्य हैं तथा इसका रूप अपार है। हम चाहे जिस नाम से या जिस रूप में हो, ईश्वर की पुकार सकते हैं। जब वह अन्तरात्मा की आवाज को सुनता है, तो नाम और रूप धारण कर आर्त के सामने उपस्थित हो जाता है। परन्तु जिस रूप या नाम से हमारे सामने उपस्थित होता है, वह उतना ही नहीं। यह तो उसके अनन्त रूप में एक रूप है, असंख्य नाम में एक नाम है।

(ग). तत्त्व की दृष्टि से ईश्वर ही परम तत्त्व है। वह एक अद्वैत, निरपेक्ष तत्त्व है जिसके अतिरिक्त दूसरा को तत्त्व नहीं, जिसे किसी की अपेक्षा नहीं। इसीलिये ईश्वर को अनादि और अनन्त मानते हैं। इस अनन्त को सान्त बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, अतः ईश्वर अनिर्वाच्य है।

(घ). नैतिक दृष्टि से ईश्वर एक नैतिक विधान है, शाश्वत् नियम है। शुभ और अशुभ का निर्णायक ईश्वर है। इस विधान के अनुसार पुण्य को पुरस्कार और पाप को दण्ड मिलता है। सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन इन्हीं नैतिक नियमों से चलता है। ये नियम शाश्वत् हैं। इसी शाश्वत् नैतिक नियम का नाम ईश्वर है। यह सभी देश और काल के लिये समान नैतिक व्यवस्था है।

(ङ). ईश्वर सत्य है। सत्य भाव या सत्ता मात्र है जो भूत, भविष्य और वर्तमान में समानतः विद्यमान है। समय की कोई इकाई नहीं जो शुद्ध भाव से रहित हो। यह शुद्ध भाव या सत्तामात्र ही सत् है। दूसरे शब्दों में त्रिकालवर्ती सत्ता का नाम ही सत्य है। ईश्वर ही सत्य है, क्योंकि ईश्वर अज और अनादि है। अज और अनादि को नित्य मानते हैं। जो तीनों काल में एकरस और एकरूप विद्यमान रहता है। नित्य ईश्वर शाश्वत् सत्ता है, सत्य है। यहाँ पर ईश्वर और सत्य में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर है

ईश्वर और सत्य के सम्बन्ध में गाँधी जी की अवधारणा और व्याख्या मौलिक हैं। वे ईश्वर और सत्य में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इसीलिये ईश्वर को सत्य और सत्य को ईश्वर मानते थे। परन्तु ईश्वर को सत्य और सत्य को ईश्वर स्वीकार करने में कुछ अन्तर है जिसे गाँधी जी ने स्वतः स्पष्ट किया है। इन दोनों वाक्यों की अलग-अलग व्याख्या से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है।

१. महात्मा गाँधी जी आइडियाज पृ. ४३

२. यंग इण्डिया, ११,१०,२८।

ईश्वर सत्य है

इस वाक्य के विश्लेषण से सत्ता चलता है कि महात्मा गाँधी सर्वतोभावेन ईश्वरवादी थे और ईश्वर की सत्ता को पूर्णतः सत्य मानते थे। ईश्वर सत्य है का अर्थ है कि ईश्वर की सत्ता या अस्तित्व का निषेध सम्भव नहीं। ईश्वर का निषेध हो सकता है, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व का निषेध सम्भव नहीं। हम कह सकते हैं कि ईश्वर का अमुक स्वरूप मान्य नहीं, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व को अमान्य नहीं कर सकते। इसका कारण है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने-अपने ईश्वर का स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते हैं। उदाहरणार्थ-वैष्णवों और शैवों में ईश्वर के स्वरूप पर मतभेद है परन्तु ईश्वर का अस्तित्व जो निर्विरोध है। महात्मा गांधी की मान्यता है कि अस्तित्व तो स्वरूप से पहले है किसका अस्तित्व हम पहले नहीं मान लेंगे उसके स्वरूप का निर्धारण भी हम नहीं कर सकते। जब हम कहते कि साकार तथा सगुण रूप ईश्वर का यथार्थ स्वरूप नहीं है, तो स्पष्टतः हम ईश्वर के साकार रूप का निषेध करते हैं, इसका अस्तित्व तो मानकर ही निषेध करते हैं। अतः ईश्वर व्यक्तिपूर्ण नहीं है। ईश्वर में व्यक्तित्व का निषेध है परन्तु अस्तित्व की स्वीकृति है, क्योंकि ईश्वर को 'है' तो कहते ही है।

इस प्रकार ईश्वर सत्य है, यह वाक्य निर्गुण और सगुण रूप का समन्वय है। इसी आशय से महात्मा गांधी कहते हैं-अपने शैशव काल में मुझे ईश्वर के एक हजार नाम की आवृत्ति करने को कहा गया जो हिन्दू धर्मशास्त्रों का मत है। परन्तु विभुरूप ईश्वर की सत्ता केवल एक हजार नाम में ही समाहित नहीं हो जाती, अतः ईश्वर का केवल एक हजार ही नाम नहीं होता। हमें पूर्व विश्वास है कि ईश्वर के नाम उतने हो सकते हैं जितने संसार में प्राणी हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर 'अनाम' (नाम रहित) हैं। इसी प्रकार ईश्वर के अनेकों रूप हैं तो वह रूपरहित (निराकार) है। ईश्वर हमसे अनेक भाषाओं में बातें करते हैं। अतः हम उन्हें वाणीरहित (अवाक्) मानते हैं और इसी प्रकार हमारी अन्य अवधारणायें भी हो सकती हैं। अब यदि स्वीकार कर लिया जाय कि मानव की वाणी ईश्वर की पूर्णतः अभिव्यक्ति करने में समर्थ है तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ कि मेरे लिये ईश्वर सत्य है।

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि ईश्वर के हजारों नाम से वह अनाम, अनेकों रूप से अरूप तथा अनेक वाणी से वह अवाक् सिद्ध होता है। अनाम, अरूप और अवाक् तो निर्गुण, निराकार ईश्वर के वर्णन हैं। अतः विभिन्न प्रकार के वर्णन से ईश्वर वर्णनातीत सिद्ध होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व तो सिद्ध ही है। अतः निर्गुण और सगुण रूप ईश्वर में स्वरूप सम्बन्धी विवाद है, अस्तित्व तो निर्विवाद है।

ईश्वर सत्य का अर्थ है कि ईश्वर की शुद्ध सत्ता या भाव सर्वदा विद्यमान है। सत्य तो सत् का भाव है और सत् का कभी अभाव नहीं होता। इसीलिए सत्य को त्रिकालवर्ती माना जाता है, क्योंकि यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान में समानतः सत् रहता है, कभी असत् नहीं होता। तात्पर्य यह है कि शुद्ध भाव का कभी अभाव नहीं होता, अस्तित्व कभी नास्तिक में नहीं परिवर्तित हो सकता। इसीलिए गीता में भगवान् ने कहा है- सत् का कभी अभाव नहीं और असत् का कभी भाव नहीं होता।^१ यह सत् का शुद्ध भाव या सत्ता की सत्य है जिसका कदापि और कथमपि अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार सगुण और साकार रूप में ईश्वर के यथार्थ रूप का अभाव हो सकता है, परन्तु अस्तित्व या शुद्ध सत्ता की दृष्टि से उसका अभाव सम्भव नहीं। अतः 'ईश्वर सत्य है' का अर्थ है कि ईश्वर सर्वव्यापक, त्रिकालवर्ती सत्ता है जो कभी असत् या अभाव नहीं हो सकता। अतः 'ईश्वर सत्य है' का अर्थ है कि ईश्वर की शाश्वत् सत्ता है। उसके स्वरूप का निषेध हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का निराकरण असम्भव है।

'ईश्वर सत्य' कहकर महात्मा गाँधी निर्गुण और सगुण मत का समन्वय करते हैं। निर्गुण और सगुण में ईश्वर के गुणों के सम्बन्ध में विवाद है। निराकार और साकार ईश्वर में व्यक्तित्व को लेकर विवाद है। परन्तु महात्मा गाँधी के अनुसार यह विवाद स्वरूप को लेकर है, अस्तित्व को लेकर नहीं। निर्गुण और सगुण मत में ईश्वर का अस्तित्व तो निर्विवादतः सत्य है। यह महात्मा गाँधी की अटूट आस्तिकता का परिचायक है। अटूट आस्तिक तो वही है जो अस्तित्व में अक्षुण्ण विश्वास करता हो। उसके स्वरूप में विरोध हो सकता है। परन्तु उसका अस्तित्व तो निर्विरोध सत्य है।

सत्य ही ईश्वर है

अपने उत्तरवर्ती विचारों में गाँधी जी ने अपने पूर्ववर्ती विचारों में कुछ परिवर्तन किये। इस परिवर्तन के अनुसार पूर्ववर्ती 'ईश्वर सत्य है' उत्तरवर्ती 'सत्य ही ईश्वर है' हो गया। इस परिवर्तन को स्वीकार करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर मैंने यह कहना प्रारम्भ किया कि ईश्वर सत्य ...परन्तु दो वर्ष बाद कुछ दूर और गया और स्वीकार किया कि सत्य ही ईश्वर है। आप इन दोनों वक्तव्यों में सूक्ष्म भेद देख सकते हैं- ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर है। मैं सत्य के अथक अन्वेषण के उपरान्त ही इस निष्कर्ष

१. नासतो विद्यते भावो नाभावी विद्यते सतः १-अ. २.

पर पहुँच सका सत्य ही ईश्वर है।^१ पुनः महात्मा गाँधी दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि यदि मनुष्य अपनी वाणी से ईश्वर का पूर्ण वर्णन कर सकता है तो हमें यह अवश्य कहना चाहिये कि ईश्वर सत्य है लेकिन मैं एक कदम और अठासर हुआ और कहा कि सत्य ही ईश्वर है। परन्तु सत्य हमें दो अर्थों में नहीं प्रतीत हुआ। अतः सत्य ही ईश्वर है यह ईश्वर परिभाषा हमें अधिक सन्तोष प्रदान किया।^२

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'सत्य ईश्वर है' महात्मा गाँधी का परवर्ती विचार है कि जो पूर्ववर्ती ईश्वर सत्य है का परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप है। इस विचार की विशेषताएँ निम्न हैं -

(क). 'सत्य ईश्वर है' यह अधिक मूल्यवान है। धर्म ईश्वर के बिना तो जीवित रह सकता है, परन्तु सत्य के बिना नहीं। विश्व का कोई भी धर्म सत्य का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य धर्म का सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। अतः धार्मिक मूल्यों की दृष्टि से सत्य ईश्वर की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। ईश्वर का भी मूल्य है परन्तु परम सत्य के रूप में।

(ख). 'सत्य ईश्वर है' यह आस्तिक और नास्तिक दोनों को समानतः स्वीकार्य है। आस्तिक और नास्तिक के विभाजन का आधार ईश्वर हो सकता है, परन्तु सत्य नहीं। तात्पर्य यह है कि नास्तिक दर्शन ईश्वर को नहीं स्वीकार करते परन्तु सत्य को तो आस्तिकों के समान ही स्वीकार करते हैं। अतः यह आस्तिक नास्तिक का सुन्दर समन्वय करता है।

(ग). 'सत्य ईश्वर है' में सत्य ईश्वर की अपेक्षा शक्तिशाली तथा व्यावहारिक है। ईश्वर के भय से ईश्वरवादी अनुचित कार्य नहीं करता, परन्तु अनीश्वरवादी में भी ईश्वर का भय नहीं। परन्तु 'सत्य' के भय से अनीश्वरवादी भी कांप जाते हैं। व्यवहार ईश्वर के बिना सम्भवतः चल सकता है, परन्तु सत्य के बिना व्यवहार असम्भव है। इसीलिये सत्य को अधिक लोकोपयोगी माना जाता है।

1. But down in me I used to say that though God may be God. God is Truth above all.... But two years ago I went to a step further and said Truth is God, you will see the fine distinction between the two statements, viz that God is Sruth and truth is God. And I came to the conclsion a continuous and relentiess search after Truth.
Young India 31.13.31

2. If is all possible for the human tongue to give the fullest deseription of God... then we must say that God is Truth... But I went a step further and said Truth is God...I never found a double meaning in connection with Truth... Hence the definition Truth is Ood' gives me greatest satisfaction.
Young India 31.12.1931

(घ). 'सत्य ईश्वर है' यह एक अद्वैत सत्य का प्रतिपादन करता है। ईश्वर एक हो सकते हैं जिसे एकेश्वरवादी स्वीकार करते हैं। ईश्वर अनेक हो सकता है जिसे अनेकेश्वरवादी या सर्वेश्वरवादी स्वीकार करते हैं। परन्तु एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद में सत्य को एक अद्वैत रूप माना जाता है। दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत द्वैतादि से श्रेष्ठ है।

(ङ). 'सत्य ईश्वर है' में सत्य विश्वधर्म की स्थापना में सहायक हो सकता है, परन्तु ईश्वर नहीं। आधुनिक मानव मानव-धर्म को अपनाना चाहता है जो देश, काल, सम्प्रदाय और परम्परा से मुक्त हो। ऐसे धर्म को विश्व-धर्म की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि सभी लोग मानव हैं, अतः मानव धर्म को स्वीकार करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। परन्तु ईश्वर का देश, काल, सम्प्रदाय के दायरे से बाहर नहीं जा सकता। अतः संसार के सभी लोग मानवतावादी तो हो सकते हैं, परन्तु ईश्वरवादी नहीं।

(च). 'सत्य ईश्वर है' में सत्य ईश्वर की अपेक्षा सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः समाज में सुख और शान्ति से मिल-जुलकर रहना चाहता है। अतः सामाजिक शांति और सुख सत्य के प्रति आस्था से बढ़ती है। ईश्वर में आस्था भी शान्ति और सुख का कारण अवश्य है, परन्तु किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये दूसरे सम्प्रदाय के लोगों में इससे अनास्था उत्पन्न होती है जो अशान्ति का कारण बनता है। इसीलिये ईश्वर के नाम पर सामाजिक रक्तपात होता रहा है परन्तु सत्य की रक्षा के लिये कभी रक्तपात नहीं हुआ।

नैतिक दर्शन

नैतिकता तो धर्म के समान ही गाँधीवाद की आधारशिला है। महात्मा गाँधी के सभी विचार धर्म और नैतिकता से ओत-प्रोत हैं। यहाँ तक कि उन्हें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विचारों के मूल में धर्म और नीति ही है। प्रश्न यह है कि धर्म और नीति में सम्बन्ध क्या है?

साधारणतः हम समझते हैं कि धर्म का क्षेत्र नीति के क्षेत्र से भिन्न है। धर्म में प्रायः हम आत्मा-परमात्मा आदि की चर्चा करते हैं। नीतिशास्त्र में आचरण सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता है। परन्तु दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। धर्म के विषय पारमार्थिक होते हैं अथवा अलौकिक, अतीन्द्रिय होते हैं परन्तु नीतिशास्त्र में हम शुभ और अशुभ पर विचार करते हैं। शुभ-आचरण ही नीतिशास्त्र का प्रमुख विषय है, परन्तु शुभ आचरण एक सामाजिक अनिवार्यता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में सुखी तथा शान्तिपूर्वक ढंग से जीना चाहता है। सुख और शान्ति तो शुभ आचरण के परिणाम हैं। प्रश्न

यह है कि व्यक्ति शुभ आचरण कैसे करता? अथवा व्यक्ति के किन कर्मों को नैतिक दृष्टि से शुभ स्वीकार किया जाय? महात्मा गाँधी शुभ के शास्त्रीय विवाद में नहीं पड़ना चाहते और इस प्रश्न का उत्तर बड़े सरल ढंग से देते हैं। उनका कहना है कि नैतिक दृष्टि से वही कार्य शुभ है जो शुद्ध शरीर और निर्मल मन में किया हो। तात्पर्य यह है कि शरीर और मन की पवित्रता शुभ कार्य के लिए आवश्यक है। शरीर बाह्य शुद्धता है और मन आन्तरिक शुद्धता है। अतः बाह्य और अन्तर दोनों दृष्टि से शुद्ध कार्य ही शुभ है। बाह्य और आन्तरिक शुद्धता को शौच (पवित्रता) कहते हैं। अतः शौच शुभ का कारण है। इसके विपरीत अशौच अशुभ का कारण है।

शौच के लिये पाँच यमों की आवश्यकता हैं- सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिटाह और ब्रह्मचर्य। योगदर्शन में इन यमों की विस्तृत चर्चा है। जैन दर्शन में इन्हें पंच महाव्रत कहा गया है। इनका पालन गृहस्थ और सन्यासी दोनों के लिये आवश्यक है। योगदर्शन में पंच-यम और जैनदर्शन में पंच महाव्रत के समान ही महात्मा गाँधी सदाचार के पाँच नियम मानते हैं। गाँधी जी योग के यम और जैन के महाव्रतों को स्वीकार करते हुए भी कुछ अतिरिक्त बातें इनमें जोड़ते हैं। अतः गाँधी जी के सदाचार के पाँच नियम तो मूलतः योग तथा जैन दर्शन के समान ही हैं, परन्तु नयी परिस्थितियों के अनुसार कुछ नयी बातों को गाँधी जी जोड़ते हैं, उन्हें गाँधी जी की देन कह सकते हैं। अतः महात्मा गाँधी की नैतिकता में प्राचीनता और नवीनता दोनों का समुचित समावेश है। वे भारतीय नैतिकता के स्वरूप में कुछ व्यावहारिक सामग्री को जोड़कर हमारे समाने नैतिकता का एक नया रूप उपस्थित करते हैं। इसीलिए गाँधी जी पंचयमों और पंच महाव्रत के अतिरिक्त नयी सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न अन्य यमों या व्रतों को भी जोड़ते हैं। अन्य यम या व्रत हैं - सर्वधर्म समता, स्वदेशी शारीरिक श्रम, अस्पृश्यता और अस्वाद। इस प्रकार महात्मा के सदाचार के नियम १० हैं।

सत्य का आचरण तो धर्म का मूल है। उपनिषदों में सत्य की महिमा का वर्णन मुक्त स्वर से कहा गया है कि सर्वदा सत्य बोलो, सत्य के प्रति प्रमाद न करो।^१ सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से देवबोक का मार्ग प्रशस्त होता है, तत्त्वज्ञानी सत्य से ही परमेश्वर को प्राप्त करते हैं। सत्य, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से आत्मोपलब्धि होती है। शरीर में सत्य का ही प्रकाश है जिसे दोषरहित सन्यासी देखते हैं।^२ पुनः कहा गया है कि जिनमें

१. सत्यं वद, सत्यान्न प्रमदितव्यम्।

-तैत्तिरीय उपनिषद्

२. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमनृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।

सत्येन लभ्यस्तपास ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

-मुण्डकोपनिषद्

तप, ब्रह्मचर्य और सत्य है उन्हीं को ब्रह्मरूपी आत्मा की उपलब्धि होती है। जिनमें कुटिलता, मिथ्या और माया है उनके द्वारा नहीं।^३ महात्मा मनु के अनुसार सत्य ही सनातन धर्म है। अतः सत्य बोलें, प्रिय बोलें और कभी अप्रिय सत्य न बोलें। प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिये। यही सनातन धर्म है।^४ महाभारत में कहा गया है कि सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं। सभी धर्मों का मूल सत्य है, अतः कभी सत्य का लोप नहीं होना चाहिए।^५

महात्मा गाँधी सत्य का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार करते एये अपनी जीवनकथा को सत्य के प्रति प्रयोग कहा करते थे। उनके अनुसार सत्य ही जीवन और जगत् का सार है। सत्य को वे साध्य और साधन दोनों मानते हैं। सत्य की प्राप्ति के लिये ही उन्होनें राजनीतिक संघर्ष छोड़ा जिसका नाम सत्याग्रह है तथा इनका मार्ग भी सत्य ही है।

महात्मा गाँधी के दर्शन में सत्य पर दो दृष्टि से विचार है- तत्त्व की दृष्टि से तथा नीति की दृष्टि से। पहला तत्त्व मीमांसा का सत्य है तो दूसरा नीति मीमांसा का। तत्त्व की दृष्टि से सत्य तत्त्व है, अतः परम सत्य तो परम तत्त्व या परमात्मा है। इसीलिये गाँधी जी का कहना है- ईश्वर सत्य है। यहाँ यह जानने की आवश्यकता है कि सत् भाव ही सत्य है। सत् तो त्रिकाल सत् है। सत् का भाव भूत, भविष्य या वर्तमान में अभाव नहीं बन सकता। ऐसा त्रिकालवर्ती सत् तो केवल परमात्मा ही है जिसका अभाव कभी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा। अतः सत् सनातन है और सनातन केवल परमात्मा ही हो सकता है। अतः परमात्मा सत्य है, का अर्थ है कि परमात्मा की सत्ता शाश्वत् या सनातन है। यह सर्वदा विद्यमान रहता है जो सत् है वह शाश्वत् है तथा वह कभी असत् नहीं हो सकता तथा जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकता। ईश्वर तो शुद्ध सत्ता है जो शाश्वत् है, कभी असत् नहीं हो सकता।

बाद में गाँधी जी ने अपने सत्य सम्बन्धी अवधारणा में पुनः परिवर्तन किया। बाद में वे 'ईश्वर सत्य है' के स्थान पर 'सत्य ईश्वर है' ऐसा कहना प्रारम्भ किया। इस परिवर्तन में गाँधी जी का दृष्टिकोण यह था कि सत्य ईश्वर से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नास्तिक

३. तेषानेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं तेषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्वामनृतं न माया चेति॥

-प्रश्नोपनिषद्

४. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः

-मनुस्मृति

५. नास्ति सत्यपरो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।

स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥

-महाभारत

ईश्वर को नहीं मानते परन्तु सत्य को मानते हैं। अतः ईश्वर से सत्य अधिक व्यापक है। यह सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। नास्तिक ईश्वर का निषेध कर सकता है, परन्तु धार्मिक मूल्य का नहीं।

नैतिक दृष्टि से भी गाँधी जी सत्य को परम मूल्यवान मानते थे। नैतिक दृष्टि से सत्य व्यावहारिक है। संसार का व्यवहार सत्य से ही चलता है। व्यावहारिक सत्य सदा वचन बोलता है तथा कभी असत्य या झूठ नहीं बोलता है। परन्तु सर्वदा सत्य का पालन तथा सर्वथा असत्य का त्याग कैसे सम्भव है? महात्मा गाँधी का कहना है कि व्यावहारिक जीवन में सत्यपालन के लिए कुछ दोषों का त्याग करना होगा। ये दोष हैं- अधिक बोलना, अतिशयोक्ति करना, पक्षपात करना, तथ्यों को छिपाना आदि। यदि किसी वस्तु का वर्णन आवश्यकता से अधिक करता हूँ तो निश्चित रूप से कुछ असत्य गुणों का भी प्रतिपादन करता हूँ। इसी प्रकार अतिशयोक्ति में असत् गुणों का समावेश हो जाता है। अतः दोषों को दूर कर मनुष्य सत्य का पालन कर सकता है। कभी किसी ने महात्मा जी के सामने प्रश्न किया कि गाय की रक्षा करने के लिये असत्य का प्रयोग उचित है या नहीं? महात्मा जी ने उत्तर दिया कि ऐसे प्रश्नों में उलझना उचित नहीं। इन प्रश्नों का समाधान स्वयं परिस्थितियों में हो जाता है। मनुष्य को सत्य पर अचल रहना चाहिये तथा इन परिस्थिति का निदान व्यवहार में ढूँढना चाहिए। सत्य वचन की परिभाषा करते हुए महात्मा जी ने बतलाया है कि जिस तथ्य को जिस रूप में, जैसा सुना गया, देखा गया, अनुभव किया गया उसका उसी रूप में वर्णन करना ही सत्य है। इसमें वाचालता, अतिशयोक्ति, पक्षपातपूर्ण वर्णन आदि दोषों का निराकरण है। अतः गाँधी जी के अनुसार वाणी, विचार और कर्म तीनों में सत्य का पालन आवश्यक है।

सत्याग्रह

महात्मा गाँधी के नैतिक दर्शन का सार सत्याग्रह है। सत्याग्रह सत्य का आटाह है। सत्य तो गाँधी जी के दर्शन में स्वयं ईश्वर ही है और आटाह आस्था है अतः सत्याग्रह ईश्वर के प्रति आस्था है जिसमें आस्था होती है वही ईश्वरीय मार्ग पर आरूढ़ होता है। अतः सत्याग्रह सत्य के मार्ग पर आरूढ़ होना भी है। सत्य के मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति के समाने बाधाएँ अनेक आती हैं, अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं परन्तु किसी भी विषम परिस्थिति में सच्चा सत्याग्रही सत्य का सहारा नहीं छोड़ता। यही सत्य के प्रति पूर्ण आस्था से समर्पण है अथवा सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है। अपनी अटूट आस्था के कारण ही सत्याग्रही विजयी होता है, क्योंकि अन्त में सत्य की विजय होती है।

महात्मा गाँधी के नैतिक दर्शन में सत्याग्रह शब्द का एक नया अर्थ है। यह सत्य के लिये युद्ध करना है। साधारणतः युद्ध शत्रुता से प्रारम्भ होता है, शास्त्रों का प्रयोग होता है

और अन्त में विजय पराजय होती है। सत्य के प्रति युद्ध तो प्रेम से प्रारम्भ होता है, अहिंसात्मक अस्त्रों का प्रयोग होता है, और अन्त में असत्य पर विजय प्राप्त करता। इस प्रकार अहिंसात्मक साधनों के द्वारा असत्य पर अन्ततः विजय प्राप्त करने लिए युद्ध का नाम ही सत्याटाह है। यही महात्मा गाँधी की देन है, गाँधीवाद की विशेषता है। गाँधीजी के अनुसार सत्य के संघर्ष में शत्रु के शरीर का अन्त नहीं किया जाता वरन् उसका हृदय परिवर्तन कर शत्रु को मित्र बना लिया जाता है। प्रेम से द्वेष पर, सत्य से असत्य पर, अहिंसा से हिंसा पर विजय है।

महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन सत्य के प्रति प्रयोग है और सत्याटाह ही इनके प्रयोग की विधि है। संक्षेप में, सत्य प्राप्ति ही उनके जीवन का साध्य और सत्याटाह ही उसका साधन है। स्वयं महात्मा जी सत्याटाह की व्याख्या करते हैं कि सत्याटाह सत्य-शक्ति है। यही आत्मशक्ति या प्रेमशक्ति है। इस शक्ति का सम्बन्ध हिंसा से नहीं। यथार्थ में, हिंसा तो उस पुनीत आध्यात्मिक शक्ति का निषेध है। अतः इस शक्ति का प्रयोग वे ही कर सकते हैं जो हिंसा को पूर्णतः समाप्त कर चुके हैं। यह तो ऐसा शक्ति है जिसका प्रयोग व्यक्ति तथा समुदाय दोनों कर सकते हैं तथा इसका प्रयोग राजनैतिक और पारिवारिक कार्यों के लिए भी किया जा सकता है। इसका विश्वव्यापी प्रयोग तो इसका शाश्वत् तथा अजेय स्वरूप प्रदर्शित करता है। इसका प्रयोग तो पुरुष, स्त्री, बच्चे सभी समानतः कर सकते हैं। यह कथन नितान्त असत्य है कि इसका प्रयोग निर्बलों के द्वारा किया जाता है, क्योंकि वे हिंसा का उत्तर हिंसा से देने में असमर्थ हैं... जो अपने को निर्बल समझते हैं, उनके द्वारा तो

1. Its equivalent in the vernacular rendered into English meant Truthforce, I think Tolstoy called it also Soul-force or Love-force, and so it is. Carried out to its utmost limit this force is independent of pecuniary or other material assistance, even in its elementary form of physical force or violence. Indeed violence is the negation of this great spiritual force which can only be wielded or cultivated by those who will entirely eschew violence. It is a force that may be used by individuals as well as by communities. It may be used as well in political as in domestic affairs. Its universal applicability is a demonstration of its permanence and invincibility. It can be used alike by men, women and children. It is totally untrue to say that it is a force to be used only by the weak, so long as they are not capable of meeting violence by violence. This superstition arises from the incompleteness of the English expression [Passive Resistance]. It is impossible for those who consider themselves weak to apply this force. Only those who realise that there is something in man which is superior to the brute nature in him, and that the latter always yield to it can effectively be passive resisters. This force is to violence, and therefore to all tyranny, all injustice what light is to darkness.

इसका प्रयोग असम्भव है। इसका प्रयोग वे कर सकते हैं जो यह अनुभव करें कि मानव में दानव बल से श्रेष्ठ कुछ हैं जिसके सम्मुख दानव-बल झुक जाता है। सत्याठाही सक्रिय अवरोधक हो सकता है। सत्याठाह की यह शक्ति हिंसा पर विजय की, अन्याय और अत्याचार पर विजय की, प्रकाश की अन्धकार पर विजय की शक्ति है।

महात्मा गाँधी के उपरोक्त उद्धरण से सत्याठाह के प्रायः सभी अंश विद्यमान हैं। इस उद्धरण के विश्लेषण से सत्याठाह की निम्न विशेषताएँ स्पष्टतः होती हैं -

(क). सत्याठाह सत्य का आठाह है, सत्य के लिये अटूट आस्था है। इस आस्था के कारण ही सत्याठाही अपने मार्ग पर अविचलित रूप से अटासर होता रहता है। विध्वंस-विधाओं से वह विचलित नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियों से पथभ्रष्ट नहीं होता। यह उसका अदम्य उत्साह और सराहनीय साहस का प्रमाण है^१ :

(ख). सत्याठाह शारीरिक शक्ति नहीं वरन् आत्म-बल है। यह आन्तरिक शक्ति है जो शारीरिक शक्ति से अधिक ओजस्वी तथा प्रभावशाली है। आत्मा का यह अमोघ अस्त्र जिसके पास है उसे शारीरिक शस्त्र की आवश्यकता ही नहीं। आत्मा बल शरीर बल से श्रेयस्कर है।

(ग). सत्याठाह ईश्वरीय मार्ग है। सत्य ही ईश्वर है और सत्य के प्रति श्रद्धा ईश्वर के प्रति आस्था है। परमात्मा का मार्ग तो प्रेम का मार्ग है, क्योंकि प्रेम से ही परमात्मा प्रसन्न होता है। अतः सत्याठाह प्रेम मार्ग है और सच्चा सत्याठाही प्रेम का पुजारी है इसीलिए सत्याठाह को प्रेमशक्ति कहते हैं।

(घ). सत्याठाह आध्यात्मिक शक्ति है जिसका संचालन अहिंसा के माध्यम से होता है। हिंसा तो आध्यात्मिक शक्ति का अभाव है। अतः आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ही अहिंसक बन सकता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक शक्ति से रहित व्यक्ति ही भौतिक हिंसा का सहारा लेता है।

(ङ). सत्याठाह का प्रयोग विश्वव्यापी है, क्योंकि यह अज्ञेय शक्ति तथा अमोघ अस्त्र है। व्यक्ति और समुदाय दोनों इसका प्रयोग कर सकते हैं। राजनैतिक और पारिवारिक सभी बाधाओं का निराकरण इस अमोघ शक्ति से ही सम्भव है।

(च). सत्याठाह अस्त्र के प्रयोग सभी समानतः कर सकते हैं। सबल पुरुष, निर्बल बालक और अबला स्त्री सभी समान रूप से इसका प्रयोग करते हैं। अतः सत्याठाह सबल और निर्बल के भेदभाव से शून्य है। ऐसा अमोघ अस्त्र जिसे सक्षम और अक्षम दोनों उपयोग कर सकें, अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

(छ). सत्याठाह के लिये सत्य बल की अपेक्षा है। सत्य बल आत्म बल है, शारीरिक शक्ति नहीं। आत्म बल से सम्पन्न ही सच्चा सबल है, वही सत्याठाह का प्रयोग करने में समक्ष है। शारीरिक शक्ति से सम्पन्न तो आध्यात्मिक शक्ति से रहित निर्बल है। आन्तरिक शक्ति से सम्पन्न ही सबल होता है और सबल ही इसके प्रयोग में सक्षम।

(ज). भ्रान्तिवश कुछ लोग सत्याठाह को निर्बलो का अस्त्र समझते हैं तथा यह मानते हैं कि हिंसा के बिना हिंसा पर विजय प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे भूल जाते हैं कि सत्य सनातन धर्म है। सत्य सर्वश्रेष्ठ बल है। अतः सत्य से असत्य पर अहिंसा से हिंसा पर प्रेम से द्वेष पर विजय प्राप्त किया जा सकता है कोई दूसरा मार्ग नहीं।

(झ). सत्याठाह की मूल मान्यता है कि देव बल दनुज बल से श्रेष्ठ है, अतः अन्त में दनुज-बल को देव बल के सामने घुटने टेकना पड़ता है। कुछ समय के लिये दनुज बल प्रभावशाली प्रतीत अवश्य होता है, परन्तु अन्त में वह पराजित होता है, सत्य के सामने असत्य अन्ततः टिक नहीं पाता।

(ञ). सत्य की शक्ति असत्य के अन्धकार का निवारण करने में पूर्णतः समर्थ है, अहिंसा हिंसा पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है, अत्याचार और अन्याय के निराकरण का अनन्य मार्ग सत्याग्रह है।

(ट). सत्याठाह विवश करने की विधि नहीं हैं। यह विरोधी के सामने प्रतिरोध का अहिंसात्मक प्रदर्शन है। सत्याठाही सहिष्णु होता है। वह कष्ट सहता है तथा विरोध को स्पष्ट करता है। परन्तु विरोध के प्रदर्शन में वह पूर्णतः आत्मसंयम से काम लेता है। वह उत्तेजित नहीं होता, भावावेश में नहीं जाता।

(ठ). सत्याठाह का उद्देश्य हृदय परिवर्तन है। यह विरोध का शमन है, विरोधी का दमन नहीं। सत्याठाह के द्वारा विरोधी को अपने भूलों के प्रति सचेत करे उसके हृदय में द्वेष के स्थान पर प्रेम उत्पन्न किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में द्वेष और प्रेम दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। द्वेष के जागृत होने पर दमन करता है यदि उसके हृदय में प्रेम की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दिया जाय तो वह अपने भूलों पर पश्चाताप करने लगता है तथा दमन के मार्ग का स्वतः त्याग कर देता है।

उपरोक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि सत्याठाह सत्य के मार्ग पर अविचलित रूप से आरूढ़ होना है। यह सत्य को साक्षी कर प्रेम के द्वारा कष्ट सहने के लिए तत्पर होना है। तात्पर्य यह है कि सत्य का उपासक, सत्य हिंसात्मक साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं करता। वह स्वयं कष्ट सहकर विरोधी को असत्य मार्ग से हटाता है। सत्याठाही घृणा को प्रेम से, असत्य

को सत्य से और हिंसा को आत्मकष्ट के द्वारा जीत लेता है।¹ सत्याठाही अत्याचार करने वाले से घृणा नहीं करता वरन् अत्याचार कहा करते थे। सत्याठाही अत्याचार करने वाले से घृणा नहीं करता वरन् अत्याचार के निवारण के लिए प्रयास सरता है। महात्मा गाँधी इसे सत्य बल या आत्मबल कहा करते थे। सत्याठाही अत्याचारी के सम्मुख अपने आत्म बल का प्रदर्शन कर उसके हृदय में परिवर्तन ला देता है। यही सत्य का आटाह या युद्ध है। इस युद्ध के अस्त्र सत्य और अहिंसा है। ये असाधारण अस्त्र है। इन अस्त्रों का प्रयोग करने वाला कभी विफल नहीं हो सकता। इन अस्त्रों का प्रयोग कर महात्मा गाँधी ने स्वतंत्रता संठाम में विजय प्राप्त की।

महात्मा गाँधी सत्य के पुजारी थे। उनका विश्वास था कि सत्य सर्वव्यापक होता है, अर्थात् यह सभी व्यक्तियों में आवश्यक रूप से स्थित रहता है। अत्याचार करने वाला इसका अपवाद नहीं। उसके हृदय में भी सत्य अवश्य विद्यमान है, परन्तु सुप्त है। सत्याठाही का कार्य इसे जगाना है। जब सत्याठाही कष्ट रहता है और अपनी माँग से हटता नहीं तो एक ऐसा समय आता है जब अत्याचारी के हृदय में सुप्त सत्य जग जाता है, मनुष्यता जग जाती है। यही हृदय परिवर्तन की स्थिति है। इस हृदय परिवर्तन से सत्याठाही की मांगे मान ली जाती है, उसकी विजय होती है।

महात्मा गाँधी के सत्याठाह को कुछ लोग निष्क्रिय प्रतिरोध समझते हैं। परन्तु सत्याठाह और निष्क्रिय प्रतिरोध में भेद है।

(क). सत्याठाह सक्रिय है परन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध समझते हैं। सत्य के मार्ग पर अविचलित रूप से चलना किसी प्रकार से निष्क्रिय रूप से चलने के समान निष्क्रिय नहीं वरद् पूर्णतः सक्रिय है।

(ख). निष्क्रिय प्रतिरोध में बल प्रयोग की आवश्यकता होती है और बल प्रयोग शारीरिक होता है और अतः इसमें हिंसा की संभावना बनी रहती है। परन्तु सत्याठाह सिद्धान्त रूप से अहिंसात्मक है। इसमें हिंसा की कोई संभावना नहीं।

(ग). निष्क्रिय प्रतिरोध में विरोधी को परेशान करना अथवा विवश करने का भाव है। अतः इसमें विरोधी को कष्ट पहुँचाया जाता है सत्याठाह में विरोधी को कष्ट देना या परेशान करना बिल्कुल वर्जित है।

1. Literally Satyagraha means insistence on truth and hence truth force. A Satyagrahi tries to over-come hate by love evil by good, anger by love untrath, himsa by Ahrmsa
Brij Kishore Goyal, Gandhi, Nehru and Tagore. p. 13

(घ). निष्क्रिय प्रतिरोध एक प्रकार से विरोधी का दमन है। विरोधी को विवश कर अपने पक्ष को स्वीकार किया जाता है। परन्तु सत्याग्रह विरोध का दमन है। यह दमन विरोधी का हृदय परिवर्तन कर ही किया जाता है। इसके द्वारा विरोधी हृदय में द्वेष के स्थान पर प्रेम उत्पन्न किया जाता है।

(ङ). निष्क्रिय प्रतिरोध भौतिक है। इसमें नैतिक मूल्यों का स्थान नहीं। सत्याग्रह पूर्णतः आध्यात्मिक है। इसमें सत्य, शुभ, ईश्वर आदि नैतिक प्रत्ययों का उचित स्थान है। पहले के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है तो दूसरे के लिए आत्मा की आन्तरिक शक्ति की अपेक्षा है।

सत्याग्रह की आवश्यकताएँ

महात्मा गाँधी के दर्शन में सत्याग्रह एक अमोघ अस्त्र है, असाधारण औषधि है। परन्तु इस अस्त्र को अपनाने के लिए कुछ आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किये बिना सच्चा सत्याग्रही नहीं बना जा सकता ये आवश्यकताएँ सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों हैं।

सैद्धान्तिक आवश्यकताएँ

(क). सत्याग्रह के लिये ईश्वर में अटूट आस्था की आवश्यकता है। महात्मा गाँधी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है, अतः सत्य के प्रति पूर्ण समर्पण सत्याग्रह की आवश्यकता है। जो सत्य का निष्ठापूर्वक आलम्बन नहीं कर सकता वह सत्याग्रही नहीं हो सकता।

(ख). सत्याग्रह के लिये सहिष्णुता तथा धैर्य की आवश्यकता है। विघ्न-बाधा तथा विषम परिस्थितियों को सहना सहिष्णुता है। सत्याग्रही विपत्ति झेलने में कभी विमुख नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना धैर्य और उत्साह बनाये रखता है, अपनी आहुति भी देने को तैयार रहता है। यही धैर्य उसे सफलता के शिखर पर ले जाता है।

(ग). सत्याग्रह के लिये आत्म संयम और आत्मानुशासन की आवश्यकता है। सत्याग्रही स्वयं को इतना संयमित और अनुशासित कर लेता है कि वह अविचलित रूप से विद्यमान रहता है। प्रायः किसी भी आन्दोलन में पाँच तत्त्व पाये जाते हैं।

सर्वप्रथम लोग आन्दोलन करने वाले के प्रति उदासीन रहते हैं, लोगों पर आन्दोलन का प्रभाव नहीं पड़ता। तत्पश्चात् लोग आन्दोलन करने का उपहास करते हैं- मजाक उड़ाते हैं। इसके पश्चात् कुछ लोग उसकी निन्दा करते हैं, उसे भयाक्रान्त कर कुचलना चाहते हैं। अन्त में, आन्दोलन करने वाले को अविचलित देखकर जनता उसका आदर करती है, उसकी बातें मान लेते हैं। सत्याग्रह इन पाँचों परिस्थितियों में अविचलित रहता है तथा सबको पार करता है।

(घ). सत्याग्रह के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा, अहिंसा व्रत का पालन आवश्यक है। सत्याग्रह तो प्रेम-मार्ग है, इसमें कपट, झूठ, द्वेष, हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। अहिंसक सत्याग्रही स्वयं कष्ट सहता है परन्तु दूसरे को दुःख दे नहीं सकता, दुःख देने को सोच भी नहीं सकता। यही सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र है।

(ङ). सत्याग्रह के लिये सरल स्वभाव और निष्कपट व्यवहार आवश्यक है। सत्याग्रह तो सत्य के लिये एक खुला निमंत्रण है। इनमें किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं। सत्याग्रही सबके सामने अपनी बातों को सरल रूप में रखता है। वह अपने भाव में दुराव नहीं रखता। उसे यह अटूट विश्वास रहता है कि सत्य तो सबके लिये सत्य है, इसे छुपाने या गोपनीय बनाने की आवश्यकता ही नहीं।

(च). सत्याग्रह के लिये हृदय परिवर्तन की आवश्यकता है। यही सत्याग्रह का उद्देश्य है। यही साध्य है जिसका साधन सत्याग्रह है। अतः सत्याग्रही को इस लक्ष्य को सामने रखकर ही कोई भी कार्य करना चाहिये। यह विरोध करत है परन्तु विरोधी का दमन नहीं करता। वह केवल विरोधी के हृदय में द्वेष के स्थान पर प्रेम को जगा देता है तथा अपनी मांगों को मनवा लेता है।

उपरोक्त सैद्धान्ति आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ व्यावहारिक आवश्यकताएँ भी हैं। इन्हें सत्याग्रह के तकनीक भी कहते हैं। ये हैं-

(क). असहयोग- असहयोग प्रारम्भ करने से अत्याचार और शोषण का अन्त होता है। यदि अत्याचारी को सहयोग मिलना बन्द हो जाय तो अत्याचार भी बन्द हो जायेगा। असहयोग भी कई प्रकार का होता है, जैसे आर्थिक बहिष्कार, सामाजिक बहिष्कार, सामाजिक धरना देना आदि।

(ख). नागरिक अवज्ञा- यह अधिकारी द्वारा निर्मित कानून की अवहेलना है, इससे अधिकारी की अवहेलना होगी है और वह अत्याचार समाप्त कर देता है।

(ग). हिजरत- इसके अनुसार सत्याग्रही अपने स्थायी निवास का त्याग कर दूसरे स्थान पर निवास करने लगता है। इससे अत्याचारी भयभीत होता है।

(घ). हड़ताल- इसके अनुसार सत्याग्रही अधिकारी के कार्यों को बन्द कर देते हैं तथा अन्याय के विरुद्ध संगठित होते हैं। इस संगठन से अधिकारी भयभीत होते हैं।

(ङ). उपवास- इसके अनुसार सत्याग्रही अपनी आत्मशुद्धि करता है, प्रायश्चित्त करता है। इससे उसका आत्मबल बढ़ता है तथा विरोधी भय खाता है।

महात्मा गाँधी की सामाजिक विचार-धारा

महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता व्यवहारवाद और आदर्शवाद का समुचित समन्वय है। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनके सम्पूर्ण चिन्तन पद्धति में विद्यमान है। समस्या चाहे सामाजिक हो, आर्थिक हो, राजनैतिक हो, समाधान व्यावहारिक आदर्शवाद है। वस्तुतः व्यवहार और आदर्श तो धरती और आकाश के समान एक दूसरे से सुदूर है। परन्तु गाँधी जी के विचार तो उसे क्षितिज के समान हैं जहाँ दोनों का मिलन बिन्दु है। इसे हम व्यवहार और आदर्श का सुन्दर संगम कह सकते हैं। वे यथार्थ को अवहेलना नहीं करते, साथ ही आदर्श को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देते।

गाँधी जी समाजशास्त्री नहीं थे। अतः हाब्स, लाक और रूसों के समान समाज की उत्पत्ति और विकास का सिद्धान्त नहीं बतलाते। वे एक स्वरूप तथा सुचारु रूप से चलने वाले समाज की कल्पना करते हैं। जिससे व्यवहार और आदर्श का सुन्दर समन्वय हो सके। यही गाँधी जी का व्यावहारिक आदर्शवादी समाज है। इसमें स्वार्थ और पराश्र का समन्वय है। व्यक्तीत शुभ और सामाजिक शुभ का समन्वय है। व्यक्ति और समाज दोनों को उचित स्थान दिये बिना स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता। इस स्वस्थ समाज को ही गाँधी जी आदर्श समाज कहते हैं। इस में ऊँच-नीच, जाति-पाति का भेद नहीं। साम्प्रदायिकता से शून्य इस समाज में वर्ग-संघर्ष नहीं। ऐसे समाज का आधार सत्य और अहिंसा है। इसमें सभी लोग स्वतन्त्र होंगे तथा पारस्परिक सहयोग करने के लिये तत्पर होंगे, परन्तु प्रतिस्पर्धा किसी से नहीं।

आदर्श समाज के आवश्यक अंग

वर्ण व्यवस्था- वर्ण-व्यवस्था, गाँधी जी के अनुसार हिन्दू समाज का स्वस्थ संगठन है। इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुरूप अपना पेशा चुनने में स्वतन्त्र है। परन्तु व्यक्ति को अपनी वंश परम्परा के अनुसार पेशे का चयन करना चाहिए। अतः यह व्यवस्था वंशानुक्रम के अनुसार है और समाज के लिये कल्याणकारी है।

वर्णाश्रम व्यवस्था- वर्णाश्रम के प्रति गाँधी जी के विचार उल्लेखनीय हैं। हिन्दू का एक अविच्छिन्न अंग है वर्ण-व्यवस्था। यह पूर्णतः वैदिक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की गयी है।^१ परन्तु कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था जाति प्रथा हो गयी और गुण तथा कर्म को लोग जातिगत धर्म मानते लगे।

१. चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः- गीता।

यही वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप जाति-व्यवस्था है। गाँधी जी जातिवाद को वैदिक नहीं मानते, क्योंकि यह वर्ण का प्रकृत नहीं विकृत रूप है। परन्तु वे वर्ण-व्यवस्था के समर्थक या पक्षधर थे। उनका विचार था कि वर्ण-व्यवस्था सामाजिक दायित्व एवं कर्तव्य वितरण पर आधारित है। समाजरूपी शरीर के सभी समानतः आवश्यक अंग है। इनमें किसी को ऊँच-नीच मानना व्यर्थ है। गाँधी जी के अनुसार इस व्यवस्था के अनुसार एक वर्ण में किसी गुण और कर्म की प्रधानता हो जाती है। वंशानुक्रम के अनुसार इस वर्ण के वंशज को अपना वर्णगत गुण और कर्म स्वभावतः प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार कार्य-क्षमता यदि स्वभावतः प्राप्त हो जाय तो समाज में कार्य-कुशलता की वृद्धि होगी। दूसरी बात यह है कि स्वभावतः वंशगत क्षमता को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपनी क्षमता से समाज की वृद्धि में योगदान दे। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के योगदान से सामाजिक कल्याण होगा। तीसरी बात यह है कि सामाजिक समृद्धि के लिये 'श्रम-विभाजन' को अपनाना आवश्यक है। सभी लोग सभी कार्य करने में समानतः समर्थ नहीं होते। इसका कारण है कि सभी में श्रम की क्षमता बराबर नहीं। किसी वर्ग में यह क्षमता अधिक होती है, क्योंकि उस व्यक्ति को यह परम्परा से प्राप्त है। इस प्रकार परम्परागत क्षमता को स्वीकार करने पर प्रतिस्पर्धा की भावना कम होती है। इससे सामाजिक शान्ति बनी रहती है। इस प्रकार श्रम विभाजन तथा परम्परागत क्षमता की दृष्टि से गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। परन्तु ऊँच-नीचे आदि के भेदभाव के वे समर्थक नहीं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी वे जाति प्रथा को स्वीकार नहीं करते थे, श्रम-विभाजन को मानते हुए भी श्रेष्ठता को नहीं मानते थे, परम्परागत क्षमता को महत्व स्वीकार करते हुए भी वे स्वार्थवाद को नहीं स्वीकार करते थे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था थी। इसका मूल आधार था श्रम विभाजन तथा योग्यतानुसार कर्म। अतः गाँधी जी इसे व्यक्ति के सामाजिक कर्म का वैज्ञानिक विभाजन मानते थे। व्यक्ति को योग्यता अपने वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। अतः जन्म से कोई व्यक्ति अध्ययन-अध्यापन में अधिक योग्य होता है। यह उसे अपने पूर्वजों से प्राप्त होता है। अतः अपने स्वाभाविक योग्यताओं के अनुसार कार्य पठन-पाठन ही मिलना चाहिए। इसमें सामाजिक सुविधा है। इससे सामाजिक क्षमता बढ़ेगी। साथ ही व्यक्ति की योग्यता की उपयोगिता भी उचित ही होगी। जिसकी योग्यता उसमें जन्म से विद्यमान है तो कम से कम श्रम में वह अधिक से अधिक लाभ कर सकता है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था

कालान्तर में दूषित होकर जाति प्रथा हो गयी जिसे गाँधी जी नहीं स्वीकार करते। यदि ब्राह्मण में ब्राह्मणोचित क्षमता नहीं हो तो उसे ब्राह्मण ही माना जा सकता। पुनः यदि कोई शूद्र ब्राह्मण का कार्य करने में अधिक समर्थ हो तो उसे ब्राह्मण मानने में दोष नहीं। अतः कर्म विभाजन तथा सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से यह मूलरूप में मान्य है, परन्तु अपने विकृत रूप में यह जाति प्रथा है जो अमान्य है। जन्म से ऊँच और नीच का भेद तो विषमता है सौर गाँधी जी सामाजिक समता के समर्थक थे। गाँधी जी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में निम्न गुण है-

(क). सभी व्यवसाय समान है, कोई व्यक्ति अपनी स्वाभाविक योग्यता तथा इच्छा के अनुसार अपना पेशा या व्यवसाय चुन सकता है।

(ख). व्यवसाय या पेशे के चयन में वंशानुगत क्षमता या योग्यता की वरीयता है।

(ग). इस व्यवस्था में स्वाभाविक योग्यता के अनुसार पेशे का चयन है इससे समाज स्वस्थ और सुचारु रूप से चल सकता है।

(घ). इसमें प्रतिस्पर्धा का नितान्त अभाव है। अतः यह सामाजिक सुख और शान्ति के लिये आवश्यक है।

स्वदेशी- स्वदेशी भावना महात्मा गाँधी के आदर्श समाज की विशेषता है। स्वदेशी का साधारण अर्थ है कि सुदूर वस्तुओं का त्याग कर हमें निकटतम वस्तुओं या सेवाओं का त्याग न कर हमें इसका उपयोग करना चाहिए। इसे ही हम स्वदेशी भावना कहते हैं। ऐसी भावना से युक्त व्यक्ति अपने देश की बनी वस्तुओं से प्रेम करता है तथा दूसरे देश की बनी वस्तुओं से घृणा करता है। परन्तु गाँधी जी मानवता के पुजारी थे, उनके यहाँ किसी के प्रति घृणा का कोई स्थान नहीं। उनके अनुसार यदि विदेशी सामानों के उपभोग से कोई हानि न हो और अपने देश के उद्योग में बाधा भी न उत्पन्न हो तो विदेशी सामानों का भी उपभोग होना चाहिए। अतः गाँधी जी की स्वदेशी भावना विस्तृत है, संकीर्ण नहीं।

महात्मा गाँधी के अनुसार स्वदेशी भावना के निम्न प्रकार है-

(क). धर्म के क्षेत्र में हमें अपने पूर्वजों के धर्म को अपनाना चाहिए। परन्तु इसे ज्यों का त्यों प्रहें। यदि अपने पूर्वज धर्म में कुछ विकृति उत्पन्न हो गई हो तो समयानुसार इसमें परिवर्तन भी करना चाहिए। यह धार्मिक स्वदेशी भावना है।

(ख). शासन-प्रबन्ध में यथासम्भव हमें भारत की स्वदेशी संस्थाओं जैसे ग्राम पंचायतों में शासन की व्यवस्था प्रारम्भ करनी चाहिये। यह राजनैतिक स्वदेशी भावना है।

(ग). जहाँ तक हो सके, हमें विदेशी वस्तुओं का त्याग तथा स्वदेश में निर्मित वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए। यह आर्थिक स्वदेशी भावना है।

(घ). यथासम्भव हमें विदेशी भाषा का अध्ययन का बहिष्कार और सभी विषयों के अध्ययन के लिये मातृ-भाषा को अपनाना चाहिये। यह भाषा सम्बन्धी स्वदेशी भावना है।

मूलतः गाँधी जी की स्वदेशी भावना देश-प्रेम है, अपने राष्ट्र के प्रति सम्मान है। परन्तु यह स्वदेशी-भावना या राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं। वे मूलतः प्रेम के पुराजी थे। उनके अनुसार हमें स्व (अपने) से प्रेम करना चाहिये परन्तु परिवार के हित के लिये अपने हित का त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार ग्राम-हित के लिये परिवार के हितों का त्याग करना चाहिये, ग्राम हित को भी प्रान्त हित के लिये, प्रान्त, हित, प्रदेश हित के लिये और प्रदेश हित को राष्ट्रहित के लिए त्याग करना चाहिए तथा राष्ट्र हित को भी सबके हित के लिये त्याग करना चाहिए।¹

स्वराज

यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है। आदर्श समाज की मौलिक मान्यता है कि समाज में शासन करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र हो। परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता नहीं और न शासन का कुछ लोगों के हाथों में शासन का केन्द्रित होना ही है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अवश्य होना चाहिए परन्तु उसे सामाजिक हित को अपने हित से श्रेयस्कर स्वीकार करना चाहिये। सामाजिक हित की उपेक्षा करना तो जंगली पशुओं का नियम है तो शुद्ध व्यक्तिवाद को बढ़ावा देता है। इसके साथ ही स्वराज्य का अर्थ शासन का कुछ लोगों के हाथों केन्द्रित होना नहीं। गाँधी जी के अनुसार स्वराज तो निर्धनों (गरीबों) का स्वराज है, जिसमें धनी के समान धनहीन भी अपने जीवन की आवश्यकताओं का उपभोग समानतः कर सके। इसमें धर्म ऊँच-नीच का भेद नहीं। सच्चा स्वराज कुद लोगों के हाथों अधिकार को केन्द्रित नहीं वरन् सभी लोगों में अधिकारी को

1. The individual being sacrifices himself for the family, the latter for the villager, the village for the district, the district for the province the province for the nation for all.

D.M. Datta The Philosophy of Mahatama Gandhi, P. 160.

अधिकार के दुरुपयोग से रोकने की शक्ति है। ऐसे स्वराज के लिये जनमानस में एक ऐसी शक्ति जागृत करने की आवश्यकता है जो अधिकार का नियन्त्रण करे।¹ यह अधिकार के दुरुपयोग की चेतावनी है।

सर्वोदय

महात्मा गाँधी के अनुसार आदर्श समाज का उद्देश्य सर्वोदय है। सर्वोदय सबका उदय है। समाज के प्रति व्यक्ति का पूर्ण विकास है। व्यक्ति समाज का अंग है, अतः प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण विकास तो पूर्ण समाज का विकास है। सभी का उदय है। किसी व्यक्ति के उदय की उपेक्षा तो सर्वोदय आदर्श से दूर होना है। सर्वोदय पूर्ण आदर्श है, अतः किसी के उदय की उपेक्षा आदर्श को अपूर्ण बना देता है, जो सामान्य है। प्रश्न यह है कि सर्वोदय आदर्श क्या है? गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित शुभ है। इसे प्राप्त करना ही व्यक्ति का आदर्श है। इस आदर्श के अनुसार ही वह समाज में आचरण करता है। आचरण तो बाह्य अवश्य है, परन्तु आचरण का आदर्श - 'शुभ प्राप्ति' आन्तरिक है। इस आन्तरिक शुभ को प्राप्त करने का अवरण सबको समानतः प्राप्त होना चाहिये। अतः सबको शुभ-प्राप्ति का समान अवसर ही सर्वोदय है। एक और आवश्यक प्रश्न है कि सर्वोदय आदर्श सम्भव है? उत्तर यह है कि यह आदर्श है अतः अप्राप्य अवश्य है परन्तु हम इसको प्राप्त करने का प्रयास तो कर सकते हैं, इससे प्रेरणा तो ग्रहण कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि सबका उदय व्यावहारिक दृष्टि से भले सम्भव न हो परन्तु यह आध्यात्मिक आदर्श हमारे व्यवहार का मार्ग-दर्शन कर सकता है। हम इस आदर्श के अनुरूप आचरण कर भौतिक जीवन को आध्यात्मिक बना सकते हैं। जिस सीमा तक हम इसके अनुरूप हो सकते हैं, उस सीमा तक हम शुभ की ओर हैं, शुभ के मार्ग पर हैं।

सर्वोदय आदर्श के अनुसार-

(क) सर्वहित या कल्याण में स्वहित या अपना कल्याण निहित है।

(ख) आजीविका की दृष्टि से वकील और नाई का मूल्य सम है, क्योंकि दोनों को आजीविका का अधिकार समान है।

1. 'The Swaraj of my dream is the poor man's Swaraj. The necessities of life should be in common with those enjoyed by princes and moneyed men'. The Swaraj of my dream recognises no race or religious distinction... Swaraj is to be for all... 'I hope to demonstrate that the real Swaraj will come not by the acquisition of authority by the acquisition of the capacity by all to resist authority when abused. In other words Swaraj is to be attained by educating the masses to a sense of their capacity to regulate and control authority'.

(ग) शारीरिक श्रम का जीवन जैसे कृषक का जीवन ही सच्चा जीवन है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सर्वोत्तम समाज में भी सभी व्यक्ति का कल्याण है। परन्तु सभी का कल्याण तो सभी के सुख के समान असम्भव सा है। अतः सर्वोदय को उपयोगितावाद समझना चाहिए। उपयोगितावाद के अनुसार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही वांछनीय है। इसी के अनुसार सर्वोदय अधिकतम व्यक्तियों का उदय है। परन्तु सर्वोदय और उपयोगितावाद में भेद है। उपयोगितावाद नैतिकता का आदर्श है जिसके अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि वही कार्य नैतिक दृष्टि से उचित है जिससे अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख प्राप्त है। अतः इसका आधार सुख है। परन्तु सर्वोदय का आधार प्रेम है। प्रेम के कारण तथा समाज कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति सर्व-हित में स्वहित को निहित मानता है। सर्वहित तथा स्वहित में टकराव होने पर स्वहित का त्याग भी कर सकता है। इस त्याग का आधार सामाजिक प्रेम है।

सर्वोदय आदर्श की विशेषता यह है कि यह पूँजीवाद और साम्यवाद के दोषों को दूर करता है। पूँजीवाद श्रमिकों का शोषण कर पूँजीपति के हितों का संरक्षण चाहता है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था पूँजीपति के हित की व्यवस्था है। इसके विपरीत साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिक हित के लिये पूँजीपति का शोषण किया जाता है। मजदूर का हित मालिक के हित से बढ़कर है। इस प्रकार पूँजीवादी और साम्यवादी समाज की व्यवस्था एक-दूसरे के विपरीत है। परन्तु दोनों में किसी वर्ग का शोषण है। सर्वोदय समाज व्यवस्था में किसी का शोषण नहीं। समाज का सच्चा हित तो दोनों का हित है, किसी एक का नहीं। इसलिए सर्वोदय समाज का समन्वयवादी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें सभी व्यक्ति तथा सभी वर्ग का हित है। अतः सर्वोदय आदर्श है। यह एकांगी नहीं, वरन् सर्वांगी व्यवस्था है जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण सम्भव है।

गाँधी जी की राजनीतिक विचार-धारा

महात्मा गाँधी के मूल-मन्त्र दो ही हैं- सत्य और अहिंसा जिनका प्रयोग वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना चाहते थे। उनके राजनैतिकविचार भी इन्हीं मूल-मन्त्रों से प्रेरित हैं। समाज की आधार-शिला ही सत्य और अहिंसा है तो राज्य का आधार स्तम्भ भी यही होगा तथा सरकार भी इसी के अनुकूल होगी। इस प्रकार राजनैतिक विचारों का आधार नैतिक है तथा राजनैतिक कार्यप्रणाली आध्यात्मिक है।

महात्मा गाँधी अहिंसा के महान् पुराजी थे, अतः अहिंसा के आधार पर ही राज्य सरकार की स्थापना के पक्षधर थे। परन्तु राज्य सरकार का पूर्णतः अहिंसक होना संभव नहीं, अतः वे राज्य का विरोध करते थे। उनके अनुसार राज्य-सरकार का नैतिक और

अहिंसक होना सम्भव नहीं। राज्य सरकार नियमों को बनाती है तथा नागरिकों से नियमों को मनवाती है। नियमों की अवहेलना करने वाले नागरिकों को दण्डित करती है तथा नियमों के अनुसार आचरण करने वाले नागरिकों को पुरस्कृत करती है। अतः नागरिक दण्ड के भय अथा पुरस्कार के प्रलोभन से नैतिक कर्म करता है। यह व्यक्ति का कर्म स्वेच्छा से नहीं वरन् यत्रवत् है। सोच-समझकर न किया जाये जहाँ स्वेच्छा की स्वतन्त्रता नहीं केवल मान लेने की विवशता और परतन्त्रता है, वहाँ नैतिकता नहीं। अतः राज्य सरकार स्व-विवेक का हनन करती है। इतना ही नहीं, राज्य हिंसा का भी प्रतीक है, परन्तु राज्य तो आत्मविहीन यन्त्र है। इसीलिये गाँधी जी राज्य या सरकार का विरोध करते हैं। उनका विरोध पाश्चात्य जगत् के दार्शनिक अराजकतावाद के प्रायः समीप है।

परन्तु महात्मा गाँधी अराजकतावादी नहीं थे। वे व्यवहारवादी तथा व्यक्तिवादी थे। व्यवहारवादी होने के कारण वे जानते थे कि व्यवहार का नियन्त्रण राज्य के बिना सम्भव नहीं। समाज में स्वभावः कुछ विघटनकारी तत्व होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से नहीं चलने देते। ऐसे तत्वों के नियन्त्रण के लिये राज्य या सरकार की आवश्यकता है। परन्तु राज सत्ता साध्य नहीं।

महात्मा गाँधी व्यक्ति को साध्य मानते थे और राज्य का साधन। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी का कहना है मेरी दृष्टि में राजसत्ता कोई साध्य नहीं वरन् मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी दशा सुधारने का एक साधन है। इससे स्पष्ट है कि राज्य आवश्यक नहीं। अराजक तत्वों से सुरक्षा के लिये इसकी आवश्यकता है। परन्तु राज्य व्यक्तिहित का साधन मात्र है। इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी राज्य विहीन प्रजातन्त्र के समर्थक थे। वे व्यक्तिहित को ही सर्वस्व मानते थे। जहाँ तक राज्य व्यक्ति हितों की रक्षा करता है, उस सीमा तक आवश्यक है। संक्षेप में व्यक्ति हित के साधक राज्य को मानते थे, व्यक्ति हित के बाधक राज्य को नहीं। अतः राज्य विहीन का अर्थ अराज्य नहीं। समाज का राज्यविहीन होना एक आदर्श है। व्यवहार में समाज बिना राज्य या सरकार के नहीं चल सकता। परन्तु वही राज्य या सरकार अच्छी है जो व्यक्ति के हित का साधक हो तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कम से कम हस्तक्षेप करे। राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप से व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा, यही साध्य है।

विकेन्द्रीकरण

महात्मागाँधी के अनुसार शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रीकरण अनुचित है। अतः वे शक्ति का विकेन्द्रीकरण चाहते थे। इसका कारण यह है कि राज्य की शक्ति यदि कुछ

लोगों के हाथों केन्द्रित रहेगी तो शोषण होगा। राज्य का मुख्य कार्य तो व्यक्ति का सम्पूर्ण कल्याण है, परन्तु शक्ति के केन्द्रीकरण से व्यक्ति का अहित होना प्रारम्भ हो जाता है, अतः राज्य अपने मूल उद्देश्य से दूर हट जाता है। दूसरी बात यह है कि शक्ति का कुछ ही लोगों में केन्द्रित होना तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोध है। तीसरी बात यह कि केन्द्रित शक्ति की सुरक्षा के लिए बल-प्रयोग करना होगा, इसमें हिंसा होगी अतः अहिंसात्मक राज्य की स्थापना के यह प्रतिकूल है।

एक आवश्यक प्रश्न यह है कि इस विकेन्द्रीकरण का स्वरूप क्या होगा? स्वयं गाँधी जी इसे एक उपमा के द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार यह व्यवस्था समुद्र में उठने वाला लहरों के चक्र के समान होगी? चक्र का केन्द्र तो व्यक्ति होगा जो स्वहित का त्याग ग्रामहित के लिए करेगा, ग्रामहित का त्याग ग्राम चक्र (समूह) के लिये होगा और इस प्रकार अन्त में एक समष्टिरूप हित होगा जिसकी इकाई विभिन्न व्यक्ति होंगे। इस चक्र लहर की बाह्य परिस्थितियाँ आन्तरिक चक्र की अपनी शक्ति से समाप्त नहीं करेगी वरन् बाह्य आन्तरिक को शक्ति प्रदान करेगा तथा इन्हीं से शक्ति भी ग्रहण करेगी। यह व्यवस्था विभिन्न ग्रामों की एक समष्टि रूप व्यवस्था होगी। परन्तु यह समष्टि पिरामिड की आकृति की नहीं होगी जिसमें एक सर्वोच्च शिखर होता है और सबसे संकीर्ण आधार।^१

इस उपमा से विकेन्द्रीकरण स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार समुद्र के विभिन्न चक्रक लहरों में शक्ति है। कोई शक्तिहीन नहीं तथा सभी के सहयोग से ही चक्रक लहर की प्रक्रिया चलती रहती है, उसी प्रकार शक्ति भी एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होनी चाहिए तथा शक्ति का केन्द्र सर्वदा व्यक्ति को होना चाहिए।

ग्रामीण गणराज्य

महात्मा गाँधी गणराज्य के समर्थक थे। यह विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया का परिणाम है। विकेन्द्रीकरण के अनुसार शक्ति का केन्द्रीकरण होना चाहिए। अतः राज्य की शक्ति ग्रामों में रहनी चाहिए। इस प्रकार शक्ति सम्पन्न ग्राम गणराज्य होगा जो राष्ट्रीय सरकार का आधार-सतम्भ होगा। इस आधार के बिना राष्ट्रीय सरकार निराधार तथा निरर्थक होगी। इन

1. 'In this structure composed of innumerable villages life will not be a pyramid with the apex sustained by the bottom. But it will be an oceanic circle whose centre will be the individual always ready to perish for the village, the latter ready to perish for the circle of village, till at last the whole becomes one life composed of individuals the outermost circumference will not wield power to crush the inner circle, but will give strength to all within and derive its own strength from it.'

ग्रामीण गणराज्यों की शक्ति से राष्ट्रीय सरकारे चलेगी। इस ग्रामीण गणराज्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि स्वतन्त्र व्यक्ति का समूह ही ग्राम है। प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत राज्य होगा इसे ही रणराज्य कहा जायेगा। पंचायत राज्य या गणराज्य सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न तथा आत्मनिर्भर होगा। परन्तु इसकी आत्मनिर्भरता तथा स्वतन्त्रता दूसरे के लिये बाधक नहीं होगी। एक ग्रामीण गणराज्य के सदस्य दूसरे ग्रामीण गणराज्य की सहायता तथा सहयोग करेगे। प्रत्येक गाँव का यह कर्तव्य होगा कि वह होगा कि वह खाने के लिये अन्न और कपड़ों के लिए रूई का उत्पादन करेगा, पशुओं के लिए चरागाह और खेल-कूद मनोरंजन के लिए मैदान गाँव की भूमि में लाभप्रद फसलें ऊपजायी जाय और कभी गांजा, भांग, अफीम, तम्बाकू आदि की खेती न हो। गाँव की अपनी पाठशाला तथा अपना सार्वजनिक भवन भी होगा चाहिए। बुनियादी शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होनी चाहिए। ग्राम का कार्य सहकारिता के आधार पर हो। दण्ड की व्यवस्था अहिंसात्मक आन्दोलन सत्याग्रह और असहयोग के आधार पर होगी। प्रत्येक ग्राम में ग्राम रक्षक का दल होगा जिसके सदस्य बारी-बारी से चुने जायेगे। ग्राम का शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत से होगा। पंचायत के सदस्यों में निम्नतम योग्यता होना आवश्यक है और उनका चुनाव प्रतिवर्ष गाँव के सभी वयस्क स्त्री पुरुष करेगें।^१

यही गाँधी जी के ग्रामीण गणतन्त्र का स्वरूप है। गाँधी जी का विश्वास था कि ग्रामीण गणतन्त्र में न कोई अनपढ़ होगा और न बेकार। प्रत्येक व्यक्ति के भोजन के लिये पौष्टिक आहार, आवास के लिये हवादार मकान और और वस्त्र के लिये पर्याप्त खादी की व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ और सामान्य जीवन व्यतीत करेगा।

महात्मा गाँधी की अधिक विचार-धारा

अन्य विचारों के समान गाँधी जी के आर्थिक विचारों का केन्द्र भी व्यक्ति ही है अतः व्यक्ति के आर्थिक विकास का ही वे कार्यक्रम बतलाते हैं। व्यक्ति पर ही समाज, राज्य और देश की आर्थिक व्यवस्था निर्भर करती है। अतः व्यक्ति के आर्थिक विकास से ही प्रारम्भ करते हैं।

व्यक्ति के आर्थिक विकास में सबसे महत्वपूर्ण विचार आर्थिक समानता है। इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक समानता होनी चाहिये। यही सामाजिक समानता का सबल आधार बन सकता है। एक आवश्यक प्रश्न यही उत्पन्न होती है कि

१. हरिजन, २८ जुलाई १९४६

व्यक्ति को आर्थिक समानता प्रदान की जा सकती है परन्तु सभी व्यक्ति की क्षमता समान नहीं। अतः सभी व्यक्ति को समान अवसर देने पर भी व्यक्तिगत क्षमता से भेद के कारण आर्थिक समता नहीं हो पायेगी। अतः पूर्णरूप से आर्थिक समानता तो मशीनी सभ्यता में सम्भव है। परन्तु यह सभ्यता मानवी नहीं रह जायेगी। अतः आर्थिक समानता के मार्ग में मशीनीकरण की बड़ी बाधा है। गाँधी जी मशीनों के उपकरण के उपयोग के विरुद्ध नहीं, परन्तु मानव के मशीनीकरण के विरोधी अवश्य है। उनके अनुसार मशीन को मानव का स्वामी न होकर दास होना चाहिये। मशीनों का उपयोग अत्यधिक आवश्यकता के अनुसार ही होना चाहिये। साधारणतः वे मशीन के स्थान पर व्यक्ति के कुटीर उद्योग पर बल देते थे। इससे स्पष्ट है कि मशीन और मनुष्य में गाँधी जी मनुष्य का महत्व स्वीकार करते थे।

शरीर-श्रम

गाँधी जी को आर्थिक विचारधारा में शारीरिक श्रम का सर्वाधिक श्रम का सर्वाधिक महत्व है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को शरीर से श्रम करना आवश्यक है। इसे ही अन्नदात्री श्रम कहते हैं। इसे रोटी का श्रम कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी रोटी के अर्जन के लिये श्रम आवश्यक है। बिना शारीरिक श्रम के अथवा पसीना बहाने बिना जो व्यक्ति रोटी खाता है वह समाज का चोर है। गाँधी जी बाइबिल तथा गीता से शिक्षा ग्रहण करते थे। बाइबिल में कहा गया है कि अपने पसीने की रोटी खाना है।

तात्पर्य यह है कि जिसने रोटी के लिये पसीना नहीं बहाया, उसे रोटी खाने का अधिकार नहीं। इस प्रकार गीता (७३-१२) में कहा है कि यज्ञ किए बिना जो खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है। इस प्रकार शरीर से श्रम कर अन्न खाने को शिक्षा गाँधी जी देते हैं। एक आवश्यक प्रश्न यह है कि बौद्धिक कर्म के प्रति गाँधी जी की धारणा क्या है? गाँधी जी बौद्धिक श्रम का भी महत्व स्वीकार करते हैं तथा यह भी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति शरीर से श्रम समान नहीं कर सकता। परन्तु बौद्धिक श्रम करने वाले व्यक्ति को भी शरीर से श्रम अवश्य करना चाहिये। धागा बुनने वाला या लकड़ी का काम करने वाला कठिन शरीर श्रम करता है। बौद्धिक श्रम करने वाला इतना कठिन श्रम नहीं करता, परन्तु अपनी सफाई तो कर सकता है, अपना झाड़ू स्वयं लगा सकता है। इस प्रकार शरीर से श्रम तो सबके लिये आवस्यक है। इसके प्रकार अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार श्रम का सबसे बड़ा लाभ यह है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति शरीर श्रम के महत्व को समझ लेता है तथा किसी शरीर से श्रम करने वाले अपने को ऊँचा नहीं समझते हैं। यदि सभी अपने अनुसार शरीर श्रम करने लगे तो ऊँच-नीच की भावना का अन्त हो जायेगा।

श्रम मजदूरी

महात्मा गाँधी शरीर-श्रम को सबके लिये आवश्यक मानते हैं। अतः समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रमिक है, श्रमजीवी है। बुद्धिजीवी के लिये भी शरीर-श्रम की आवश्यकता होती है। अतः एक प्रकार से बुद्धिजीवी भी श्रमजीवी है। यदि सभी श्रमजीवी हैं, श्रमिक हैं तो परिश्रमिक भी सबको समान मिलना चाहिये। इससे बुद्धिजीवी और श्रमजीवी में भेद-भाव का निराकरण होगा तथा समाज में समता का भाव उत्पन्न होगा।

महात्मा गाँधी सामाजिक समता के समर्थक हैं। उनके अनुसार सामाजिक समता के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोधक आर्थिक विषमता है। बुद्धिजीवी को पारिश्रमिक (वेतन) अधिक मिलता है। तथा श्रमजीवी को परिश्रमिक (मजदूरी) कम मिलती है। गाँधी जी के अनुसार दोनों श्रमिक हैं तो दोनों का पारिश्रमिक भी समान होना चाहिये। वकील बुद्धिजीवी है और नई श्रमजीवी है। परन्तु दोनों श्रम करते हैं, अतः वकील और नई के परिश्रमिक में विषमता नहीं होनी चाहिये। यह आर्थिक समता सामाजिक समता का साधक है। यदि सबका पारिश्रमिक समान होगा तो किसी के प्रति ऊँच-नीच का भाव नहीं उत्पन्न होगा। सेवा तो सबकी समान है तथा सभी को सबकी सामाजिक आवश्यकता है। सेवा का चयन तो मनुष्य अपनी रूचि तथा सुविधा के अनुसार करता है। अतः सामाजिक समता के लिये सम-मजदूरी की नितान्त आवश्यकता है।

न्यास का सिद्धान्त

संचित सम्पत्ति के सामाजिक संरक्षण और सामूहिक उपभोग को ही न्यास का सिद्धान्त कहते हैं। समाज में सबकी क्षमता या योग्यता समान नहीं। कुछ व्यक्ति आवश्यकता से अधिक अर्जित करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिये, किसी उद्योग धन्धे को लें। उद्योग-धन्धे में श्रमजीवी श्रम करते हैं तथा पारिश्रमिक (मजदूरी) रूप में अपनी रोटी अर्जित करते हैं। परन्तु उद्योगपति उद्योग का लाभ अर्जित करता है। उसे रोटी की चिन्ता नहीं, वरन् अधिकाधिक लाभ की चिन्ता रहती है। वह अपने उद्योग में नित्य नवीन उपकरणों को लगाकर अधिकतम लाभ अर्जित करना चाहता है। अधिक लाभ श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न तो अवश्य है, परन्तु इस पर स्वामित्व उद्योगपति का है। इस प्रकार उद्योगपति इस लाभ का स्वामी है तथा लाभ उसकी निजी सम्पत्ति है। प्रश्न यह है कि इस निजी सम्पत्ति का सचमुच स्वामी मौन तथा इसका उपयोग कैसे होना चाहिये।

महात्मा गाँधी का कहना है कि सम्पत्ति का न्यास बनना चाहिये तथा न्यास के निमयों के अनुसार सम्पत्ति के स्वामी को सम्पत्ति का संरक्षक माना जाय तथा सम्पत्ति का

उपभोग सामूहिक हित अथवा जनकल्याण कार्य में होना चाहिये। यही गाँधी जी का न्यास सिद्धान्त है। इसके दो भावात्मक तथा दो निषेधात्मक पक्ष हैं -

भावात्मक रूप से यह सिद्धान्त

- (क) सम्पत्ति के स्वामी को सम्पत्ति का संरक्षक स्वीकार करता है।
- (ख) सम्पत्ति का उपभोग सामूहिक स्वीकार करता है।

निषेधात्मक रूप में यह सिद्धान्त

- (क) सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का निषेध करता है।
- (ख) सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपभोग का निषेध करता है।

एक आवश्यक प्रश्न यह है कि सम्पत्ति का स्वामी अपनी संरक्षक क्यो स्वीकार करें तथा निजी सम्पत्ति का उपभोग स्वयं न कर जन-कल्याण कार्य में क्यो करे? इन प्रश्नों का उत्तर गाँधी जी नैतिकता की दृष्टि से देते हैं। नैतिक दृष्टि से इनका उत्तर अस्तेय और अपरिग्रह की भावना है। अस्तेय चोरी न करना है। गाँधी जी के अनुसार लोभ, लालच से अनावश्यक धन का उपार्जन और संग्रह चोरी है। इससे बचना अचोरी या अस्तेय है। परिग्रह, संचय करना है। संचय न करना अपरिग्रह है। लोभ और मोह के कारण व्यक्ति अनावश्यक रूप से भविष्य के लिये संचय करता है। गाँधी जी के अनुसार आवश्यकता से अधिक वस्तु का संचय न कर जन कल्याण के लिये वितरण करना चाहिये। इस प्रकार सम्पत्ति का स्वामी न होकर केवल संरक्षक तथा स्वअर्जित सम्पत्ति का स्वयं भोग न कर सामूहिक उपभोग वही कर सकता है जो नैतिक व्यक्ति हो और अस्तेय और अपरिग्रह नामक नैतिक गुणों का पालन करता है।

पुनः एक आवश्यक प्रश्न है कि व्यक्ति स्वअर्जित सम्पत्ति का स्वयं भोग न कर सार्वजनिक उपभोग की व्याख्या में कैसे समर्थ होगा? गाँधी जी का उत्तर है कि यह सम्पत्ति का सार्वजनिक वितरण है। सार्वजनिक वितरण निर्धनों में धन का बटवारा करना है। परन्तु यह भिखमांगे को दान देना नहीं है। यह श्रमिकों के कल्याण के लिए व्यय करना है, जैसे विद्यालय, वाचनालय, जलशय, मनोरंजन गृह आदि की व्यवस्था है जो जनकल्याण कार्य है, सार्वजनिक या सामूहिक हित है। इसके लिए सम्पत्ति के स्वामी (न्यास रूप में संरक्षक) के लिये आवश्यक हैं कि जनहित को स्वहित से श्रेष्ठ समझे। जब व्यक्ति परोपकार तथा जनकल्याण की भावना से प्रेरित होता है तो वह सामूहिक कल्याण की स्वकल्याण से श्रेष्ठ समझता समझता है तथा स्वअर्जित सम्पत्ति को भी जन-हित में व्यय करने में हर्ष का अनुभव करता है। स्पष्ट रूप से यह पुण्य और परोपकार्य का मार्ग है जिस पर स्वार्थी नहीं वरन् परार्थी ही चल सकता है।

महात्मा गाँधी के न्यास सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह पूँजीवाद और साम्यवाद के दोषों का निराकरण करता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में पूँजीपति के हित का संरक्षण होता है तथा साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिकों के हित का संरक्षण होता है। परन्तु पहले में श्रमिक का शोषण और दूसरे में पूँजीपति का उत्पीड़न अवश्यम्भावी है। इसका कारण वर्ग-संघर्ष है। पूँजीपति और श्रमिक का वर्ग अलग-अलग है। इन दोनों वर्गों में क्रान्ति अवश्य बनी रहती है। महात्मा गाँधी संघर्ष के स्थान पर सहयोग और क्रान्ति के स्थान शान्ति के समर्थक हैं। गाँधी जी पूँजीपति का विनाश नहीं चाहते, क्योंकि इसमें हिंसा और द्वेष है। इसके विपरीत श्रमिकों का शोषण भी नहीं चाहते, क्योंकि श्रमिकों के श्रम से ही पूँजी बनती है। आवश्यकता केवल दोनों वर्गों में प्रेम और सहयोग की है। दोनों समाज के लिये आवश्यक है। अतः पूँजीवादी को चाहिये कि अस्तेय और अपरिग्रह के आधार पर अनावश्यक अर्थ का संचय न करें, लाभांश से अर्जित सम्पत्ति को न्यास में परिवर्तित करे तथा स्वयं स्वामी न होकर संरक्षक हो तथा सम्पत्ति को स्वहित में नहीं वरन् जनहित में वितरण करें। यही सामाजिक सुख और शान्ति का मार्ग है।





Published by:

South Asia Research & Development Institute

B. 28/70, Manas Mandir, Durgakund
Varanasi-221005, U.P. (INDIA)

₹ 155/-

ISBN 978-81-932391-9-3



RAJ GRAPHICS # 09415842611